प्रकाशक—

वैदिक-साहित्य प्रचारिणी सभा,

देहली।

मुद्रक—

ला० सेवाराम चावला

चन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, देहली।

प्रकाशक का वक्तव्य

दिक साहित्य प्रचारिणी सभा की ओर से यह सातवीं पुस्तक पाठकों की सेवा में भेंट है। माननीय ग्रन्थकार के नाम से आर्य-संसार ही नहीं, सभी विज्ञ जनता सुपरिचित है। उनका पारायण विशद है, चिन्तन गहन है, अध्ययन गम्भीर है। योग जैसे असाधारण विषय की जितनी सुन्दर, हृदय-स्पर्शी एवं व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थ में मिलती है उतनी अन्यत्र—अब तक के छपे हुये किसी भी ग्रन्थ में—नहीं मिलती। प्रत्येक मनुष्य, जिसे जरा भी योगाभ्यास की ओर रुचि है, वह इस ग्रन्थ के लखाये हुए मार्ग पर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। हिन्दी जगत् में अब तक इसके जोड़ी का कोई शास्त्र नहीं है। इसमें योग की आवश्यकता योग का ज्ञान, योग का मर्म, योग की भक्ति, योग की सफलता के साधन जिस प्रकार बतलाये गये हैं; वह सर्वथा पूर्ण और उपादेय हैं, और उनका चमत्कारिक प्रभाव सहज ही पाठक की दृष्टि में आलोकित होने लगता है।

श्री पूज्य स्वामी जी ने यह अमूल्य वस्तु सभा को प्रदान की है। मैं इस महती कृपा के लिये अत्यन्त आभारी हूँ। प्रत्येक आत्मार्थी, प्रत्येक नर-नारी जो अपने को जानने, समझने, अपने अन्तर की अद्भुत शक्तियों को विकसित करने की चाह रखता है, इस उज्ज्वल ग्रन्थ रत्न को पाकर अपने को कृतार्थ समझेगा। मैं ऐसे सब जिज्ञासुओं को, ऐसे सब योग-प्रेमियों को, इसे आग्रहपूर्वक स पता हूँ।

श्री सेठ बैजनाथ जी भरतिया भिवानी निवासी ने इस पुस्तक के छपाने का समस्त भार अपने ऊपर लेकर इस सभा को बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। अतएव मैं उनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

प्रधान

देहली — वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा

१।१।३६

द्वितीय संस्करण की भूमिका

लगभग २ वर्ष हुए जब प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित की गई थी इस अल्प समय में ही प्रथमावृत्ति की सब प्रतियाँ समाप्त हो गईं और यह द्वितीय संस्करण उनके सामने उपस्थित किया जा रहा है। इससे सिद्ध है कि पाठकों ने इसे अपनाया है। यद्यपि इस संस्करण में प्रस्तुत रूप से और भी कुछ परिवर्तन करने का विचार था परन्तु समयाभाव से ऐसा नहीं किया जा सका है। केवल प्रथम संस्करण में जो प्रेस सम्बन्धी त्रुटियाँ रह गईं थीं वे यथासम्भव दूर कर दी गई हैं।

—नारायण स्वामी

विषय सूची

(उपोद्घात)

सं०	विषय	पृष्ठ

विषय-सूची

योग दर्शन

उपोद्घात

॥ ओ३म् ॥

"उपोद्घात

योग का लक्षण

"युज्" धातु से योग शब्द सिद्ध होता है, जिस (धातु) के अर्थ मिलना, जुलना आदि के हैं। "युज्यतेऽसौयोगः"। जो युक्त करे, मिलावे उसे योग कहते हैं। योग दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने "योगस्समाधि" कहकर योग को समाधि बतलाया है जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस उपलब्ध समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करे। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने "योगः कर्मसु कौशलम्" कहकर कर्म में कुशलता और दक्षता का नाम योग ठहराया है।

योग और पश्चिमी विद्वान्

कतिपय पश्चिमी और पश्चिमी दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों ने योग को चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए आत्मा का साक्षात्कार करना बतलाया है[1]। परन्तु डाक्टर रेले ने योग के लक्षण इस प्रकार किये हैं:—"योग उस विद्या को कहते हैं जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य बना देवे कि वह उन स्फुरणों के अनुकूल होता हुआ संसार में हमारे

(१) असली शब्द ये हैं:—"Self Concentration with a view to seeing the Soul as it looks when it is abstracted from Mind and Matter." (Mysterious Kundalini P. 10)

चारों ओर जो असीम सज्ञान व्यापार हो रहे हैं उनको बिना किसी की मदद के जाने, ग्रहण करे और बचावे"[२]। डाक्टर रेले ने इस अन्तिम लक्षण को सबसे अधिक अपने अनुकूल समझा है।

महर्षि पतञ्जलि और योग

इस प्रकार अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढङ्ग से योग की परिभाषायें की हैं, परन्तु योगियों के मुकुटमणि, योगि शिरोमणि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है:—योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः[३]। अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के रोक देने का नाम है। चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं? उनके रोकने का भाव क्या है? इन प्रश्नोंके समझे विना परिभाषा का भाव समझा नहीं जा सकता। इन प्रश्नों के समझने से पहले यह समझ लेना उपयोगी होगा कि चित्तकी इन वृत्तियों के रोकने की जरूरत क्यों होती है?

जीवात्मा और उसका कर्तृत्व

योग दर्शन, ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। इनमें से जीव है जिसके कर्तृत्व में सहायता देने के लिए इस दर्शन की रचना हुई है। वेद में ईश्वर को

---

(२) डाक्टर रेले के शब्द ये हैं:—"Yoga is the science which raises the capacity of the human mind to respond to higher vibrations, and to perceive, catch and assimilate the infinite conscious movements going on arround us in the Universe. (The mysterious Kundalini by Dr. Vasant G. Rele. p. 10 & 11)

(३) योग दर्शन १।२

"वाचिव्याहृतायाम्"¹ कहा गया है। अर्थात् ईश्वर वाच्य के वाचक व्याहृति 'भूर्भुवःस्वः' हैं। भू सत्तायाम् धातु से 'भूः' सत् के अर्थ से और भुवः का अर्थ अवकल्पने धातु से चित्त है और स्वः आनन्द को कहते हैं। इस प्रकार 'भूर्भुवः स्वः' के अर्थ सच्चिदानन्द हैं। 'भूर्भुवः स्वः' अथवा सच्चिदानन्द शब्द पर विचार करने से जीव के कर्त्तृत्व का उद्देश्य निश्चित हो जाता है। सत् प्रकृति को कहते हैं, सत्+चित् जीव का नाम है, सच्चिदानन्द ईश्वर को कहते हैं। सच्चित जीव की एक ओर प्रकृति का गुण सत् और दूसरी ओर ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है। प्रश्न यह है कि जीव को अपने कर्त्तृत्व का उद्देश्य, किस को प्राप्त करना, बनाना चाहिये ? सत् जो प्रकृति का गुण है वह जीव को पहले ही से प्राप्त है इसलिये प्राप्त की प्राप्ति का यत्न व्यर्थ है परन्तु ब्रह्म का स्वरूप 'आनन्द' जीव को अप्राप्त है इसलिये जीव के कर्त्तृत्व का अन्तिम उद्देश्य आनन्द को प्राप्त करना ठहरता है। उस (जीव) के पूरे उद्देश्य को इस प्रकार कह सकते हैं।

"प्राप्त संसार (प्रकृति रूप जगत्) को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे वह अन्त में आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बन जावे।" आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। जीव का यह ज्ञान और प्रयत्न (कर्म) रूप, पुरुषार्थ जीव के बाहर (जगत्) में भी काम करता है और जीवके अन्दर भी। जब वह बाहर काम करता है

---

1 देखो यजुर्वेद अध्याय ८ मन्त्र २४

तब उसका नाम बहिर्मुखी वृत्ति होता है और जब अन्दर काम करता है तब उसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति होता है। जीव चूँकि प्रयत्नशील है इसलिये दोनों वृत्तियों में से एक न एक सदैव जारी रहती है। यदि बहिर्मुखी बन्द होती है तो स्वयमेव अन्तर्मुखी वृत्ति काम करने लगती है और जब अन्तर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तब बहिर्मुखी वृत्ति स्वतः अपना काम जारी कर देती है। बहिर्मुखी वृत्ति जब जारी रहती है तब जीव अन्तःकरणों के माध्यम से जगत् में इन्द्रियों द्वारा काम किया करता है परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति होने पर वह आत्मानुभव और परमात्मदर्शन किया करता है।

योग दर्शन की शिक्षा

महामुनि पतंजलि ने अपने कल्याणकारी दर्शन में उपर्युक्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए, इसीलिये शिक्षा यह दी है कि जगत् को इस प्रकार काम में लाओ कि जिससे यह भी अधिक से अधिक काम की वस्तु सिद्ध हो और अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति का साधन भी बन सके। इसके लिये उन्होंने दो कर्त्तव्य बतलाये हैं:—

पहला कर्त्तव्य—चित्त की वृत्तियों को एकाग्रित करना॥ चित्त के इस प्रकार एकाग्र हो जाने से मनुष्य को, संसार अधिक से अधिक सुखदायक बन सकता है।

सांसारिक सुख का कारण

सांसारिक सुख की तह में घुसने से पता लगता है कि दुनियाँ में सुख जिसे कहते हैं वह न अच्छे अच्छे स्वादिष्ट भोजनों में है, न

अच्छी अच्छी क़ीमती पोशाकों के पहनने में है और न संसार के अन्य विषयों में। सुख असल में चित्त की एकाग्रता में है। भोजनादि जिस विषय के साथ भी चित्त लग जाता है, वह विषय सुखदाई प्रतीत होने लगता है और जिस विषय के साथ चित्त नहीं लगता वह रूखा सूखा निस्सार सा प्रतीत होने लगता है। एक मनुष्य अपने अनुकूल अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन करते हुए उसका आनन्द ले रहा है, परन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु की खबर सुनने और चित्त के भोजन से हट कर पुत्र की स्मृति की ओर चले जाने से अब वह भोजन सुखदाई नहीं रहा। अब उसका एक एक लुक़्मा गले में अटकता है। कारण स्पष्ट है; अब चित्त भोजन के साथ नहीं रहा। अस्तु! योग दर्शन ने चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता बतलाते हुये शिक्षा यह दी है कि इस चित्त की एकाग्रता को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे उसका मुँह चित्त के निरोध की ओर फेरा जा सके।

चित्त का निरोध क्यों होना चाहिये ?

जब तक चित्त एकाग्रित रहता है, तब तक चित्त की वृत्तियाँ अपने काम में लगी हुई हैं और तत्परता के साथ अपना काम कर रही हैं। यहाँ तक आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती है। चित्त की एकाग्रता बहिर्मुखी वृत्ति की सीमा के अन्तर्गत ही है। परन्तु उद्देश्य अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत करना है। उसके जागृत करने या काम में लाने का साक्षात् साधन अज्ञात है।

इसलिये असाक्षात् साधन से काम लिया जाया करता है और वह असाक्षात् साधन यह है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करके वहिर्मुखी वृत्तिका काम वन्द कर दिया जावे। इसीलिये योग दर्शन में चित्त की वृत्तियों में निरोध का विधान किया गया है। वहिर्मुखी वृत्ति के वन्द होने से अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जागृत होकर अपना काम करने लगती है।

चित्त और उसकी वृत्तियाँ

चित्त को यदि एक सरोवर मानें तो उस सरोवर में उठी हुई लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। इस चित्त रूपी सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मा रूपी गंगा की ओर है और उसका दूसरा विरोधी किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। चित्त रूपी सरोवर में उठने वाली वृत्ति रूपी लहरें पाँच प्रकार की हैं—(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्तोपदेश) (२) विपर्य्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान (३) विकल्पअर्थात वस्तु शून्य कल्पितनाम (४) निद्रा सोना (५) स्मृति अर्थात् पूर्व श्रुत और दृष्ट पदार्थ का स्मरण*। चित्त में जितनी अच्छी वा बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सभी इन्हीं पाँच प्रकारों के अन्तर्गत हुआ करती हैं। इन वृत्तियों को समष्टि रूप से अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। इनमें दोनों प्रकार की बातें सम्मिलित हैं। परन्तु हैं ये सब की सब इन्द्रियों के माध्यमसे जगत् की ओर

---

* देखो योग दर्शन १। ६

जाने वाली। ऊपर जो कुछ वर्णन हुआ है उसको एक चित्र से जो नीचे दिया गया है भली प्रकार समझा जा सकेगा:—

आत्मा रूपी गंगा और उसकी नहर

चित्र में (क) चिन्ह वाली आत्मा रूपी गंगा है—(ख) उसकी नहर है—(ग) बुद्धि

(क)

आत्मा रूपी गङ्गा (झ) (अन्तर्मुखी वृत्ति)

(घ)

बुद्धि (ग)

(च) चित्त रूपी सरोवर

चित्त की वृत्तियां रूपी लहर

आत्मा रूपी गङ्गा की नहर

(ङ) बहिर्मुखी वृत्ति

(छ) इन्द्रियाँ

(ख)
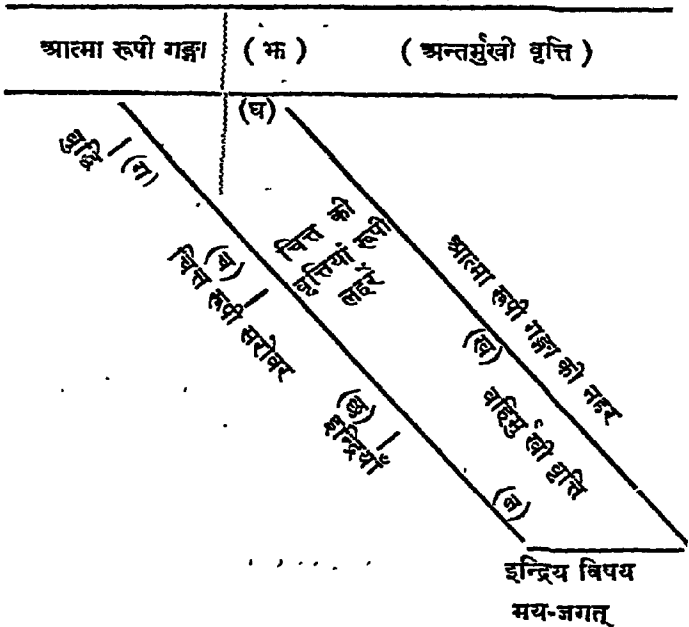
इन्द्रिय विषय
मय-जगत्

अर्थात् बहिर्मुखी वृत्ति रूपी नहर का प्रारम्भ है। (च) चित्त

रूपी सरोवर और (घ) उसकी वृत्ति रूपी लहरें हैं। (छ) इन्द्रियाँ और (ज) इन्द्रिय विषय रूप संसार है। (झ) गंगा और नहर के पुल के फाटक जिनके खोलने और बन्द करने से पानी चाहे गंगा की धारा में बहाया जा सकता है चाहे नहर में भेजा जा सकता है। चित्त की वृत्तियों से निरुद्ध होने का भाव यह है कि (झ) रूपी पुल के फाटकों में से वे फाटक बन्द हो गये जिनमें होकर गंगा का, वहिर्मुखी वृत्ति रूप जल, गंगा की नहर रूपी जगत् में जाया करता था। इसका मतलब यह हुआ कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से अब आत्मा की वहिर्मुखी वृत्ति बन्द होगई। इसका अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो गई। गंगा का जल यदि नहर में न जायगा तो आवश्यक है कि गंगा अपनी धारा में बहे। बस योग के अद्वितीय आचार्य्य महामुनि पतंजलि का आशय इस योग दर्शन की रचना से केवल इतना ही था कि चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा आत्मा की वहिर्मुखी वृत्ति को बन्द करके उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत कर दें। योग दर्शन में जितने भी साधन बतलाये गये हैं वे इसी परिणाम पर पहुँचाने के अचूक साधन हैं।

चित्त की एकाग्रता

अच्छा, यदि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने ही से योगी

के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है तो फिर चित्त की एकाग्रता का बीच में अड़ंगा किस लिये लगाया गया। उत्तर स्पष्ट है कि चित्त को एकाग्र किये बिना, निरुद्ध नहीं कर सकते। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। एक अत्यन्त चञ्चल और खिलाड़ी बालक है। अनेक प्रकार के खेलों में सदैव व्यग्र रहता है। इष्ट यह है कि इस बालक को इन खेलों से हटा कर शिक्षा प्राप्ति के श्रेष्ठ कार्य में लगाया जावे। बालक से जब यह कहते हैं कि तुम इन खेलों को छोड़ दो तो वह हूँ, हां, कह कर बात टाल देता है परन्तु अपनी शरारत से बाज नहीं आता। अब क्या करना चाहिये? एक बुद्धिमान् गुरु, जिसने मनुष्य स्वभाव का भली भाँति अध्ययन किया था, मिल जाता है। उस गुरु ने बालक के साथ खेलना शुरु करके उसे रजामन्द कर लिया कि उसके बहुसंख्यक खेलों में से सब से अच्छे एक खेल को खेलें और बाकी सबको छोड़ देवें। बालक ऐसा ही करने लगा। बालक का अब जब कि एक ही खेल रह गया तो वह गुरु के कहने से कभी कभी उसे भी छोड़ देने लगा। अन्त में कुछ काल के बाद उससे वह खेल भी छूट गया और वह अनेक अच्छे कामों में लग गया। चित्त का भी ठीक यही हाल है, उसकी चञ्चलता को छुड़ा कर जब तक उसे एक काम में नहीं लगाते तब तक उससे सब कुछ छूट जाना अत्यन्त कठिन काम है। इसीलिये चित्त को एकाग्र करना निरुद्ध करने के लिये अनिवार्य्य था। अब प्रश्न यह है कि अच्छा, इस चित्त को एकाग्र किस प्रकार किया जावे?

योग के आठ अङ्ग

योग दर्शन में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आठ अंगों का विधान किया गया है। वे अंग इस प्रकार हैं:—(१) यम,(२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि।

योग के ये आठ अंग किस प्रकार चित्त की एकाग्रता के साधन हैं, यही बात है जो यहां प्रगट की जाती है:—

१—यम

कर्म विज्ञान का यह प्रारम्भिक पाठ है कि मनुष्य को यह समझ लेना चाहिये कि सुख दुःख प्राप्ति के दो साधन होते हैं। एक मनुष्य के अपने कर्म फल और दूसरा अन्यों के कर्म। इसीलिये मनुष्य के दो कर्तव्य ठहराये गये हैं कि वह अपने को भी अच्छा बनावे और अपने को अच्छा बनाने के साथ ही अन्योंको भी अच्छा बनावे"[१]। एक मनुष्य अपने को कितना ही अच्छा क्यों न बना लेवे परन्तु यदि उसके पड़ोसी बुरे हों तो वह कभी सुख और शांति से नहीं रह सकता उसे सदैव अपने पड़ोसी के दुष्ट कर्मों से दुखी होना पड़ेगा। यदि कोई व्यक्ति योग की प्रक्रिया को काम में लाना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके चारों ओर शांति

---

१ आर्य्यसमाज के ९ वें नियम में इसीलिये प्रकट किया गया है कि मनुष्य को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

का वातावरण हो अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसी लिये योग के आठ अंगों में सब से पहले शान्ति का वातावरण उत्पन्न करने का विधान किया गया है। उस वातावरण के उत्पन्न करने का साधन "यम" है। यम के अन्तर्गत ५ बातें हैं जिनको आचरण में लाने से वायु-मंडल सुधरा करता है:—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

अहिंसा—मन, वाणी और क्रिया से किसी भी प्राणी को तकलीफ न देना। योगी जब पूर्ण रूप से अहिंसक हो जाता है तब उसके प्रति समस्त प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं। अमरीका के तपस्वी थौरियो के लिये लिखा है कि जब वह वाल्डन नामक झील के किनारे रहता हुआ अहिंसा का अभ्यास करता था[2] तो उसके शरीर से शहद की मक्खियाँ लिपट जाती थीं, परन्तु कोई उसे डसती न थी, बिच्छू पाँवों से चिपट जाते थे परन्तु वे भी उसे डंक नहीं मारते थे। इसी प्रकार की बात, महाकवि बाण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "हर्ष चरित" में लिखी है। उसने एक जगह लिखा है कि एक बार राजा हर्षवर्धन एक तपोभूमि में गया जहाँ का आचार्य दिवाकर था और जहाँ अनेक ब्रह्मचारी शिक्षा पाते थे, वहाँ राजा ने देखा कि उन अहिंसक गुरु शिष्यों के प्रभाव से सिंहों ने उनके लिये हिंसा वृत्ति की त्याग

---

१ योग दर्शन २ । ३५

2 Walden by Thoreau.

दिया था और वे उनकी तपोभूमि में उसी प्रकार रहते थे जैसे पाले हुए घरेलू कुत्ते।

सत्य—मन, वचन और क्रिया तीनों में सत्य के प्रतिष्ठित होने से योग दर्शन के भाष्यकार व्यास के लेखानुसार, योगी की वाणी अमोघ हो जाती है और फिर वह जो कुछ भी कहता है वह सत्य ही हो जाता है। यदि वह किसी को कह दे कि तू धार्मिक हो जा, तो वह धार्मिक हो जाता है इत्यादि।[1]

अस्तेय—मन, वाणी और क्रिया किसी से भी चोरी न करना और न चोरी की भावना रखना।

ब्रह्मचर्य—शरीर में उत्पन्न हुये रक्त वीर्य की रक्षा करते हुये लोकोपकारक विद्याओं का अध्ययन करना। मनुष्य के भीतर ब्रह्मचर्य से "मातृवत्परदारेषु" की भावना उत्पन्न होकर योगी को संसार के लिये निर्दोष बना देती है।

अपरिग्रह—धन के संग्रह करने, रखने और खोये जाने, धन की इन तीन अवस्थाओं को दुःखजनक समझ उससे अधिक, जिससे जीवन यात्रा पूरी हो सके, धन की इच्छा न करना अपरिग्रह कहा जाता है।

योगी इन पाँच बातों पर आचरण करने से अपने को इस योग्य बना लेता है कि जिससे उसे दूसरे के कर्मों से दुखी न होना पड़े।

---

१ देखो योग दर्शन २। ३६ का व्यासभाष्य।

(२) नियम—

अपने कर्म के फल से भी दुखी न होना पड़े इस लिये योगी को नियमों का पालन करना चाहिये। वे नियम ये हैं:—

शौच—बाह्य और अन्तःकरणों को शुद्ध रखना।

सन्तोष—पुरुषार्थ से जो कुछ प्राप्त हो उस से अधिक की इच्छा न करना और अन्यों के धनादि को अपने लिये लोष्टवत समझना।

तप—शीतोष्ण, दुःख सुखादि को एक जैसा समझते हुये नियमित और संयमित जीवन व्यतीत करना।

स्वाध्याय—ओङ्कार का श्रद्धा-पूर्वक जप करना और वेद, उपनिषदादि उद्देश्य साधक ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन करना।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर का प्रेम हृदय में रखते और ईश्वर को अत्यन्त प्रिय और परम गुरु समझते हुये, अपने समस्त कर्मों को उसके अर्पण करना।

ये पांच नियम हैं। इनके पालन करने से मनुष्य अपने को इस योग्य बना लेता है कि अधर्म और पाप से सम्पर्क न रख सके। इन ५ यमों के पालन करने से मनुष्य नियमों के पालन करने में समर्थ हुआ करता है और नियमों के पालने से यमों के अनुकूल आचरण रखने में अभिरुचि बढ़ा करती है।

(३) आसन—

आसन सुख पूर्वक बैठने को कहते हैं। यद्यपि आसनों की

संख्या ८४ कही जाती है और उनमें से प्रत्येक की उपयोगिता भी है परन्तु राजयोग में आसन सुख पूर्वक बैठने ही का नाम है जिससे वह किसी आयन्दे की, की जाने वाली क्रिया में, विघ्न-कारक न हो सके।

आसन की एक और उपयोगिता—और वह उपयोगिता यह है कि वह भूख के कम लगने का कारण होता है। इसके समझने के लिये यह समझ लेना आवश्क है कि प्राण और अपान की, इस सम्बन्ध में, उपयोगिता, अनुपयोगिता क्या है ?

प्राण और अपान पर एक वैज्ञानिक दृष्टि—जो श्वास बाहर जाता है उसे प्राण (Expired Air) कहते हैं और जो अन्दर आता है उसे अपान (Inspired Air)। प्राण में कारबोनिक एसिड गैस (Carbonic Acid) की औसत प्रायः ४·२८ फीसदी होती है। दिन की अपेक्षा रात्रि में यह शरीर से अधिक निकल जाता है। भूख की इच्छा, अनिच्छा, कारबोनिक एसिड गैस के शरीर से अधिक और कम निकलने पर निर्भर होती है। शरीर के हिलने झुलने' व्यायाम करने, चलने फिरने, भोजन करने आदि से, बैठे रहने की अपेक्षा, यह गैसशरीर से अधिक निकल जाती और इसीलिये भूख अधिक लगती है। भूख, प्यास की इच्छा भी अभ्यास में बाधक हुआ करती है इसीलिये योग का तीसरा अंग आसन (बिना किसी प्रकार की गति किये, शान्ति के साथ एक ढंग से बैठे रहना) ठहराया गया हैं जिससे भूख भी बाधक न हो सके। पातंजल योगाभ्यास

के लिये पद्मासन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

मिताहार—भोजन करने के बाद कारवोनिक एसिड के शरीर से निकलने की मात्रा, भोजन न करके भूखा रहने की अपेक्षा, अधिक बढ़ जाती है। सीक्वीन (Sequin) एक विद्वान् के अनुभव में यह बात आई है कि जब वह उपवास करता था तो केवल १२१० घन इञ्च शुद्ध वायु (Oxygen) काम में आता था परन्तु भोजन करने के बाद पाचन क्रिया के मध्य १६०० घन इञ्च प्राण प्रद (Oxygen) व्यय हुआ। कारवोनिक एसिड के शरीर से कम निकलने के उद्देश्य ही से जिससे भूख बाधक न हो सके योगी कभी उपवास भी करता है और कभी अल्पाहार ग्रहण करता है और मिताहारी (नियमित आहार वाला) तो उसे सदैव होना ही चाहिये। कोई कोई अभ्यासी दिन में कुछ भी नहीं खाते केवल रात्री में थोड़ा सा भोजन किया करते हैं। ऐसे योगी नक्त-भोजी कहलाते हैं।

कारवोनिक एसिड के निर्माता तत्व——जिस कारबोनिक ऐसिड गैस के शरीर से अधिक निकल जाने से भूख अधिक लगा करतीहै वह १२ अंश कार्बन और ३१ अंश प्राणप्रद (Oxygen) वायु से मिल कर बना करता है। यह यदि वायु में चार या पांच भी प्रति-शतक हो तो ऐसी वायु में कोई चीज भी न जल सकेगी। अस्तु अधिक प्राण-प्रद के काम में

आने का अभिप्राय यही हुआ कि कारबोनिक एसिड शरीर से अधिक निकला ।

गुफाओं में रह कर अभ्यास करना— उष्ण ऋतु की अपेक्षा शीतकाल में, शीतोष्ण (Temperature) में शीत की अधिकता से भी कारबोनिक एसिड शरीर से अधिक निकलता है और इसीलिये भूख भी अधिक लगा करती है । इसी कारण से पुराने योगी, मांद में रहने वाले पशुओं की भांति, गुफाओं में रहा करते थे क्योंकि जितना भी बाहर का शीतोष्ण, प्राणियों के भीतरी शीतोष्ण के निकट होगा उतनी ही भूख कम लगेगी । कारण स्पष्ट है कि ऐसे बाह्य शीतोष्ण में शीत की मात्रा अधिक नहीं हो सकती, इसलिये भूमध्य रेखा के समीपवर्ती रहने वालों की अपेक्षा ध्रुव देश के समीपवर्ती प्राणियों को भूख की इच्छा अधिक हुआ करती है । एक बात और भी है और वह यह कि जो स्थान चारों ओर से घिरे होते हैं जैसे गुफा, उनमें रहने वाले, कारबोनिक एसिड, उन स्थानों में, रहने वालों की अपेक्षा जो चारों ओर से खुले रहते हैं, कम खर्च करते हैं । इसी लिये उन्हें भूख भी कम सताती है । इन कारणों से योगियों को छोटे द्वार वाली गुफाओं में रहना अधिक रुचिकर होता है ।

कम बोलना अथवा मौनावलम्बन—यदि मनुष्य चुप रहे तो उसकी अपेक्षा, नियत समय में बोलने अथवा उच्च स्वर से बोलने वाले, अधिक कारबोनिक एसिड व्यय करते हैं इसीलिये

योगी मौन रहना अपने लिये अधिक अच्छा समझते हैं। इससे भी वे भूख की चिन्ता से मुक्त रहते हैं।

चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता—चित्त से काम लेने की अपेक्षा उसे स्थान विशेष, भ्रूमध्यादि में एकाग्रित कर देने से भी कारबोनिक एसिड कम खर्च होता है इसलिये योगियों को चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करने से भी भूख का कष्ट कम हो जाता है।

एक परीक्षण—पृथ्वी के सूखे भाग में रहने वाला एक जन्तु विशेषत: "बोम्बस" [Bombus] जाति में से था, आध घण्टे तक शान्ति से गति शून्य रहा। फल यह हुआ कि उसके श्वास गहरे और लम्बे हो गये। उन श्वासों की मात्रा एक मिनट में ८५ रही। वह जन्तु इसी हालत में १४० मिनट जब रह चुका तब उसके श्वासों की संख्या एक मिनट में केवल ४६ रह गई। इसके बाद १८० मिनट गुजरने पर उसके श्वास गिनती में आने के अयोग्य हो गये।"[1]

अधिक बैठने की आदत से भूख कम हो जाती है—

चलने फिरने और शारीरिक परिश्रम करने की अपेक्षा, चुपचाप बैठ कर कुछ न करने या दिमागी काम करने से, भूख कम लगने

१ इस परीक्षण का उल्लेख किसी ग्रन्थ से जो (Natural History) पर था, डाक्टर पाल ने अपने एक निबन्ध में किया है (A Treatise on the Yoga Philosophy by Dr. N. C. Paul p. 4 & 5).

लगती है क्योंकि इससे श्वास की संख्या कम हो जाने से कार-बोनिक एसिड के खर्च होने की मात्रा भी कम हो जाती है। जिन लोगों को बैठने का अधिक काम रहता हो उन्हें भोजन सदैव कम करना चाहिये और भोजन में दूध या ऐसी ही कोई हलकी और दस्तावर गिज़ा खानी चाहिये।

जलाशय के किनारे अभ्यास की उपयोगिता—पृथ्वी के उस भाग में जहाँ नमी अधिक हुआ करती है, वहाँ के रहने वाले सूखे भाग में रहनेवालों की अपेक्षा कारबोनिक एसिड कम खर्च करते हैं। इसीलिये उन्हें भूख भी कम तकलीफ़ देती है। मनु ने अपने धर्म शास्त्र में इसीलिये जलाशय के किनारे सन्ध्या आदि के करने का विधान किया है।

पहाड़ पर अभ्यास की उपयोगिता—समुद्र के धरातल की अपेक्षा उससे ऊँचे स्थान पहाड़ आदि में, वहाँ के रहने वाले कारबोनिक एसिड कम व्यय करते हैं इसलिये पहाड़ तपस्या और अभ्यास के लिये अधिक उपयोगी स्थान समझे जाते हैं।

शीतल जल पान—जो लोग ठण्डा पानी अधिक पिया करते हैं वे कारबोनिक एसिड़ अधिक खर्च किया करते हैं इसी लिये अभ्यास करने वाले अल्पाहार के साथ अल्प जल ही पान किया करते हैं।

अधिक मोटेपन की अनुपयोगिता—जो लोग अधिक मोटे और भारी होते हैं वे भी अधिक कारबोनिक एसिड खर्च करते हैं और इसीलिये उन्हें अधिक और अनावश्यक भूख लगा

करती है। योग शास्त्र की अपेक्षा,सम्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से, ऐसे लोग, किसी देश के लिये, अधिक हानिकारक होते हैं। कई आदमियों का भोजन यह अकेले ही चट कर जाते हैं और उसके बदले में काम कम से कम करते या कर सकते हैं। योगी अपने को सदैव हल्का और चुस्त इसी लिये बना लिया करते हैं कि जिस से भूख कम तक़लीफ दे।

अधिक भोजन से आयु का ह्रास—अधिक भोजन करने से मनुष्य की आयु भी कम हो जाती है। इतिहास गवाही देता है कि औसतन जो लोग अल्पाहारी थे उनकी आयु अधिक हुई। उदाहरण के लिये देखिये:—

सं०	नाम व्यक्ति	आयु
(१)	सेन्ट एन्थोनी (St. Anthony)	१०५ वर्ष
(२)	जेम्स दी हरमिट (James the Hermit)	१०४ ,,
(३)	अरसेनियस जो राजा अरकेडियस का शिक्षक था (Arsenius, tutor of the Emperor Arcadius) ...	१२० ,,
(४)	साइमन (Simon the Stylite)	११२ ,,
(५)	रोमोल्ड (Romauld)	१२० ,,

डाक्टर पाल ने कैसियन [Cassian] के हवाले से लिखा है कि इन लोगों का भोजन २४ घण्टे में १२ औंस रोटी और पर्याप्त मात्रा में जल था।

१२ औंस रोटी के निर्माता वस्तु—इस १२ औंस रोटी में क्या क्या और कितनी-कितनी वस्तुयें होती थीं उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) जल	२३०४ ग्रेन
(२) कार्बन (Carbon)	१५३४.८ ,,
(३) प्राणप्रद वायु (Oxygen)	१५२४ ,,
(४) हाईड्रोजन (Hydrogen)	२०५.२ ,,
(५) नाट्रोजन (Nitrogen)	७२ ,,
(६) नमक	१२० ,,

अतः स्पष्ट है कि २४ घण्टे में उपर्युक्त पुरुषों ने १५०० ग्रेन से कुछ अधिक कारवोनिक एसिड खर्च किया और ६ वार से कम एक मिनट में श्वास लिया। कम भोजन करने या बिल्कुल न करने से श्वास की संख्या कम हो जाती है जैसा कि कहा जा चुका है, शरीर का ह्रास भी कम हो जाता है और इसीलिये आयु की वृद्धि होती है।

आसन के प्रकरण में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से आसन की उपयोगिता भली भाँति प्रकट होती है। अब प्राणा-याम पर विचार कीजिये।

(४) प्राणायाम

योगांगों में प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। योग दर्शन में बतलाया गया है कि प्राणायाम से प्रकाश पर जो तमादि का

आवरण आ जाता है वह क्षीण हो जाता है[1] और प्रत्याहार आदि आगे के अङ्गों के सिद्ध करने की योग्यता भी आ जाती है[2]। प्राणायाम से इनके सिवा शारीरिक और मानसिक उन्नति भी होती है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है:—

प्राणायाम और शारीरिकोन्नति—प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है इस बात के जानने के लिये एक दृष्टि शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्य्यों में से, हृदय और फेफड़े के कार्य्यों पर, डालनी चाहिये।

हृदय का स्थूल कार्य—समस्त शरीर से अति सूक्ष्म नलियाँ हृदय में आती हैं और हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नलियाँ "शिरा" और दूसरी "धमनि" कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिये हृदय में लाया करें। हृदय, उस रक्त को, फेफड़े द्वारा, शुद्ध करता है और शुद्ध रक्त को, धमनियों के द्वारा, समस्त शरीर में, भेज दिया करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है? इस का कारण यह है कि समस्त शरीर व्यापार में उसका प्रयोग होता है। शुद्ध रक्त में कुछ चमक लिये हुये अच्छी सुरखी होती है परन्तु शरीर-व्यापार में आने से वह अशुद्ध हो जाता है और उस में कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है। काम में आने से यह मात्रा कम होकर उस

---

१ योग दर्शन २ । ५२

२ योग दर्शन २ । ५३

की जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है और इसी परिवर्तन से रक्त का रंग मैला, स्याही माइल हो जाता है। हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं के द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है।

फेफड़े का काम—यहीं से फेफड़े का काम शुरू होता है। फेफड़े स्पंज की भांति असंख्य छोटे छोटे घटकों (Cells) का समुदाय है। एक शरीर-वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि लम्बाई चौड़ाई मात्र में फैला देने से फेफड़ा १४००० वर्गफ़ीट जगह घेरेगा। ये घटक एक मांस पेशी (डायेफ्राम=Diaphragm) की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये घटक खुल जाते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों उन्हें भर देते हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम उनमें काम करता है। उस नियम के वशीभूत होने से जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह दूसरे से खींच लेता है। रक्त में तो शुद्ध वायु (Oxygen) नहीं होता वह उसे श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से अलग कर लेता है। और श्वास द्वारा लिये हुये वायु में कार्बन वायु नहीं होता। वह उसे अशुद्ध रक्त में से ले लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु के निकल जाने और शुद्ध वायु के आ जाने से वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हुआ रक्त धमनियों के द्वारा शरीर में चला जाता है और अशुद्ध हुई वायु निःश्वास के द्वारा बाहर निकल जाती है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन—हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिये फेफड़े में एक बार जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आ जाना, इन्हीं दो क्रियाओं से हृदय की धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ ऐसी धड़कनें, एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में, हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में, आयु के न्यूनाधिक होने आदि कारणों से, धड़कनों की संख्या भी न्यूनाधिक हो जाया करती है। २४ घन्टे में इस प्रकार, एक शरीर-शास्त्रज्ञ के हिसाब से, २५२ मन रक्त हृदय से शुद्ध होने के लिये आता और इतना ही शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन की आवाज "लृब+डप" शब्दों के उच्चारण जैसी होती है।

फेफड़े में शुद्ध वायु न पहुंचने का परिणाम—अस्तु! अब विचारणीय बात यह है कि यदि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जावे परन्तु श्वास द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुंचे या सब कोषों [घटकों] में जहाँ रक्त पहुँच चुका है, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा।

फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं (१) ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है (२) मध्य भाग जो दोनों ओर हृदय के इधर उधर हैं (३) निम्न भाग जो "डाये फ्राम" के ऊपर दोनों ओर हैं। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता इसीलिये फेफड़े के सब भागों, अथवा सब भागों के

समस्त घटकों में नहीं पहुँचता तो ऊपरी भाग फेफड़े का रोगी होना शुरू हो जाता है और अन्त में वह "ट्यूवर क्यूलोसिस" (Tuberculosis) जैसे रूप को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार फेफड़ों के मध्य और निम्न भागों के रोगी हो जाने से खाँसी, श्वास, निमोनिया और जीर्ण-ज्वरादि अनेक रोग, जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुँचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर रक्त शुद्ध नहीं होने पाता और यह बिना शुद्ध हुए, अशुद्ध रक्त ही हृदय में लौट कर वहाँ से समस्त शरीर में धमनियों के द्वारा फैल जाता है। बार बार इस प्रकार दूषित रक्त के शरीर में फैलने से मामूली खाज से लेकर कुष्ट रोग तक हो जाया करते हैं। इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिये आवश्यक है कि प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के समस्त भागों में, वायु बहुतायत से पहुँचा करे। जिससे उन्हें भी पुष्ट बनाया जावे और रक्त को भी उपर्युक्त दोषों से पृथक रक्खा जावे।

प्राणायाम से कारबोनिक एसिड के निकलने में कमी—प्राणायाम के सम्बन्ध में एक विद्वान् ने जिसका नाम वीरार्ट (Vierordt) था अनेक परीक्षण किये और उन परीक्षणों का फल यह निकला कि जब मनुष्य निःश्वास रहा तो कारबोनिक एसिड गैस बहुत कम मात्रा में उसके शरीर से निकली[1] जिसका

---

1 A Treatise on the Yoga Philosophy by N. C. Paul P. 8-14.

फल स्वाभाविक रीति से यह हुआ कि वह भूख के कष्ट से मुक्त रहा।

जप से भूख में कमी—प्राणायाम के साथ जप भी किया गया। जप चाहे प्राणायाम के साथ किया गया या विना प्राणायाम के परन्तु था वह मानसिक ओ३म् का जप, तो प्रत्येक दशा में फल यह निकला कि कारबोनिक एसिड गैस कम मात्रा में निकली। उपवास के बाद जिस क्रिया से भूख कम से कम लगती है वह ओ३म् का मानसिक जप है। यदि मनुष्य प्रतिदिन १२००० वार ओ३म् का जप किया करे तो उसे बहुत थोड़े भोजन की जरूरत रह जाती है। जप से कुम्भक की अवधि भी बढ़ती है और जिन शब्दों से भी कुम्भक की मात्रा बढ़ती है वह मूर्च्छोत्पादक (Hypnotic word) समझे जाते हैं। डक्टर रैकलिफ़ (Dr. Radcliff) का कहना है कि एक लड़का ४५० वार "कप (Cup) शब्द के उच्चारण करने से सो गया। जप की अवस्था में केवल ८ ओंस रोटी-दाल खाना भूख के निवारणार्थ पर्याप्त समझा गया है। अनेक वार परीक्षण करने से भी ऐसा ही प्रमाणित हुआ है।

एक उदाहरण—एक बच्चे का शीतोष्ण, जिसके श्वास जल्द जल्द चला करते हैं १०२·५ (F) होता है परन्तु एक बूढ़े आदमी का, जिसके लिये कम भोजन की जरूरत हुआ करती है शीतोष्ण (Temperature) केवल ६६·५ (F) होता है। एक चिड़िया जिसका टेम्प्रेचर १०६ से १०६ तक होता है, केवल

---

1. A Treatise on the Yoga by H.C. Paul p. 13

तीन दिन विना भोजन के ज़िन्दा रह सकती है परन्तु एक साँप जो चिड़िया की अपेक्षा थोड़ी गर्मी रखता है, थोड़ा पुरुषार्थ करता है और इसीलिये थोड़ी कारबोनिक एसिड निकालता है, ३ मास और इससे भी अधिक विना भोजन के जीवित रह सकता है। इसी प्रकार प्राणायाम का जितना भी अधिक अभ्यास होगा उतनी ही कम भूख लगेगी और आयु की वृद्धि भी होगी।

मेंढक और प्राणायाम—कुछ एक प्राणियों के नाम यह दिखलाने के लिये अङ्कित किये जाते हैं कि वे एक मिनट में कितने श्वास लेते हैं:—

सं०	नाम प्राणी			कितने श्वास एक मिनट में लेते हैं
१	कबूतर	—	—	३४
२	मामूली चिड़िया	—	—	३०
३	बतख़	—	—	२१
४	बन्दर	—	—	३०
५	मनुष्य	—	—	१२
६	सुअर	—	—	३६
७	कुत्ता	—	—	२८
८	बिल्ली	—	—	२४
९	बकरी	—	—	२४
१०	घोड़ा	—	—	१६
११	मेंढक	—	—	३

इस चित्र से प्रकट है कि मेंढक सब से कम श्वास लेता है।

मेंढ़क के लिये, विद्वानों ने वतलाया है कि वह ११० वर्ष तक जीवित रहता है। नवम्बर के मध्य में यह जमीन के नीचे चला जाता है और फिर ५ मास के वाद अप्रेल के मध्य में निकलता है। इस प्रकार यह ५ मास तक विना भोजन और विना श्वास के रहा करता है।

(५) प्रत्याहार—

इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् हो जाना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् होने का अर्थ यह है कि आत्मा का सामर्थ्य जो वहिर्मुखी वृत्ति द्वारा चित्त और इन्द्रियों के माध्यम से व्यय हो रहा था अब काम में आने से रुक गया और रुक कर आत्मा में लौट गया। इसीलिये प्रत्याहार का उद्‌देश्य योग जगत् में आत्म-शक्ति का एकत्रीकरण समझा जाता है। आत्म-शक्ति शरीर से पृथक् होकर, शरीर में, जो ममता मनुष्य जोड़े रखता है, उसे दूर कर देने का कारण वन जाती है और तब योगी शरीर को आत्मा से पृथक्, आत्मा के हाथ का शस्त्रवत्, समझने लगता है और अपना अधिकार समझता है कि उसे जब चाहे, हाथ की वस्तु की तरह, पृथक् कर दे। जब योगी यम, नियम का पालन करते हुये भोजनादि की व्यवस्था, योगियों की मर्यादानुकूल, रखने लगता है और प्राणायाम का अभ्यास करते हुये १० मिनट तक श्वास रोके रखता है तब उसको अपनी इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है। और वह धारणा के अभ्यास करने में समर्थ होता है।

(६) धारणा—

चित्त का किसी केन्द्र पर केन्द्रित कर देना, धारणा कही जाती है। जो शक्ति प्रत्याहार के अभ्यास से एकत्रित हुई है उसे नाभि-चक्र, नासिका के अग्रभागादि पर लगा देना धारणा है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर अधिकार होता है तो धारणा से मन अधिकृत हुआ करता है। जब प्राणायाम का अभ्यास इतना अधिक बढ़ जाता है कि योगी २१ मिनट ३६ सेकिण्ड बिना श्वास के रह सके तब इससे अनायास धारणा की सिद्धि हो जाती है। धारणा की सिद्धि से, 'ध्यान' के अभ्यास करने के योग्य, योगी हो जाता है।

(७) ध्यान —

योगदर्शन में, धारणा में ज्ञान का एकसा बना रहना, ध्यान कहा गया है। [1]इसका तात्पर्य यह है कि जिस लक्ष्य पर चित्त एकाग्र हुआ है, इस एकाग्रता का ज्ञान, एकसा (निरन्तर) बना रहे। सांख्य के आचार्य्य महामुनि कपिल ने ध्यान की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से की है। उन्होंने "ध्यान निर्विषयं मनः[2]।" सूत्र के द्वारा मन के निर्विषय होने का नाम ध्यान बतलाया है। परन्तु भाव दोनों का एक ही है। जब मन किसी लक्ष्य पर एकाग्र हो रहा है तब निश्चित है कि वह निर्विषय है क्योंकि "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्[3]" की व्यवस्थानुसार, मन एक समय में, दो विषयों को, ग्रहण नहीं कर सकता। विषय का अभिप्राय,

(१) योगदर्शन ३।२। (२) सांख्य दर्शन। (३) न्याय दर्शन १।१।१६।

साधारणतया, इन्द्रिय विषय ही होता है, इसलिये जब मन किसी लक्ष्य पर एकाग्रित है और एकाग्रता में निरन्तरता है, तब यह योग दर्शनानुसार ध्यान है और इस ध्यान में मन निर्विषय है। सांख्य दर्शन में यही बात इस प्रकार वर्णित है कि जब मन निर्विषय है तो वह ध्यान की अवस्था में है। स्पष्ट है कि भाव दोनों का एक ही है। प्राणायाम का अभ्यास इतना हो जाने पर जिससे योगी ४३ मिनट १२ सेकिण्ड श्वास रोके रक्खे, यह ध्यान की अवस्था योगी को प्राप्त हो जाती है।

(८) समाधि—

ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का ज्ञान योगी को बना रहता है, परन्तु जब यह हालत हो जाती है कि ध्याता भूल जाता है कि वह ध्याता है और यह भी कि ध्यान रूपी कोई क्रिया वह कर रहा है, इसका भी उसे ज्ञान नहीं रहता और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जाता है, तब इस अवस्था का नाम समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में योगी को दुःख, सुख, शीतोष्णादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, अब उसकी दृष्टि में न कोई मित्र है न शत्रु। न किसी बात में वह अपना मान समझता है और न अपमान। सोना, चाँदी, मिट्टी के ढेले से अधिक प्रतिष्ठा की वस्तु उसके लिये बाक़ी नहीं रह जाती। प्राणायाम के द्वारा जब एक घण्टा २६ मिनट और २४ सेकिण्ड तक योगी बिना श्वास के रहने लगता है, तब उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है।

अष्टांग योग का परिणाम

जब इस प्रकार से योगी अष्टांग योग का अभ्यास करता है तब इससे उसका चित्त स्थिर रीति से एकाग्र हो जाता है और इस चित्त की एकाग्रता से उसे सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती है।

योग के दो भेद

योग के दो भेद हैं (१) सम्प्रज्ञात (२) असम्प्रज्ञात। इन्हीं को सबीज और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग के समझने के लिये, इस योग के चार भेदों को, समझना चाहिए। इन भेदों का समष्टि नाम "समापत्ति" है।

समापत्ति और उसके चार भेद

जब चित्त की वृत्ति क्षीण हो जाती है और वह स्फटिकमणि के सदृश, निर्मल होकर ग्रहण (इन्द्रिय), ग्रहीता (अहङ्कार विशिष्ट-आत्मा) और ग्राह्य (इन्द्रियों के विषय) में, स्थित होती हुई उन्हीं के से रूप को प्राप्त हो जाती है, तब इस अवस्था का नाम योग दर्शन की परिभाषा में समापत्ति होता है, इस (समापत्ति) के चार भेद हैं:—

(१) सवितर्का—चित्त का किसी स्थूल पदार्थ (वृक्ष, गौ आदि) को तदाकारता प्राप्त कर लेने पर जब तक शब्द अर्थ और इन दोनों के मेल से जो ज्ञान होता है, उनके विकल्प का ज्ञान रहे तो वह सवितर्का है।

(२) निर्वितर्का—जब उसी स्थूल पदार्थ की तदाकारता होने पर केवल अर्थ का ज्ञान रह जावे तब निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है।

(३) सविचारा—जब किसी सूक्ष्म वस्तु (सूक्ष्म भूत अथवा प्रकृति) की तदाकारता के साथ शब्द अर्थ और ज्ञान का विवेक बाक़ी रहे तब सविचारा।

(४) निर्विचारा—और जब केवल अर्थ का ज्ञान बाक़ी रह जावे तब निर्विचारा समापत्ति कही जाती है।

इन चारों भेदों की सिद्धि होने पर सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि की सिद्धि हो जाती है। भेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि इन में, चित्त की एकाग्रता, स्थूल या प्रकृति पर्यन्त सूक्ष्म विषयों तक, सीमित रहती है अर्थात् आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती रहती है। जब तक यह अवस्था चित्त की रहती है, तब तक चित्त एकाग्रता की सीमा में रहता है। चित्त की एकाग्रता की सीमा भी निर्विचारा समापत्ति में, उस जगह तक है, जहां चित्त अलिंग (प्रकृति) में एकाग्र हो जाता है।[1] इस के बाद चित्त की एकाग्रता और एकाग्रता का लक्ष्य, सूक्ष्म विषय दोनों की समाप्ति होकर, आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का क्षेत्र भी समाप्त हो जाता है। इस के बाद चित्त के निरोध की सीमा का प्रारम्भ होता है। इस सीमा में घुसने से पहिले, जो योग्यता योगी को, सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि से, प्राप्त हो जाती है उसका कुछ उल्लेख कर दिया जावे तो अच्छा होगा। इस योग्यता का नाम योगदर्शन में विभूति रक्खा गया है।

योग की विभूति

योग की विभूति समझने से पहले संयम शब्द को समझ

1 देखो योग दर्शन 1 । ४५

लेना आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता की योग्यता के भेद से, जो दरजे, योगी के हो जाते हैं, वे तीन हैं :—

(१) धारणा की योग्यता वाले।

(२) ध्यान की योग्यता वाले।

(३) समाधि की योग्यता वाले।

इन तीनों योग्यताओं को एक साथ काम में लाने का नाम ही संयम है।[1] संयम कर सकने वाले योगी की, योग्यता के सम्बन्ध में, यह समझ लेना चाहिये कि जगत् में जो काम किये जा सकते हैं; चाहे उन्हें कोई साधारण पुरुष (अयोगी) असंभव ही क्यों न समझता हो, वे सभी काम, सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध योगी द्वारा, किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये कतिपय विभूतियों का यहां उल्लेख किया जाता है :—

पहली विभूति[2]—कहा गया है कि तीनों परिणामों[3] में संयम करने से अतीत (भूत) और अनागम (भविष्य) का ज्ञान योगी को हो जाता है[4]। साधारण स्त्री पुरुषों के लिये यह बात असम्भव समझी जाती है परन्तु योगी के लिये सर्वथा

---

(१) योग दर्शन ३ । ४ ।

(२) योग दर्शन की टीका में, जो विभूतियों की संख्या पड़ी है, उन्हीं के अनुसार, यहाँ जिस विभूति का भी उल्लेख किया जायगा, उन पर, संख्या, डाली जायगी।

(३) योग दर्शन ३ । १३

(४) योग दर्शन ३ । १६

सम्भव है। संसार में, सम्भव— असम्भव शब्दों का प्रयोग, प्रयोग करने वाला, अपनी योग्यता को, लक्ष्य में रख कर ही किया करता है। एक बलशाली पुरुष के लिये २५—३० मन का पत्थर, अपनी छाती पर रख लेना, सम्भव है परन्तु एक निर्बल पुरुष के लिये, यह काम असम्भव है, अस्तु!

विभूति की व्याख्या—विभूति की सम्भावना समझने के लिये अतीत और अनागत शब्दों का भाव समझ लेना चाहिये। मनुष्य के अन्तःकरणों में, चित्त, वासना, स्मृति और संस्कारों का भंडार है। अन्तःकरण का, सविस्तार विवरण, आगे दिया जायगा। चित्त में, ये स्मृति और वासना आदि जन्म जन्मान्तर से, संगृहीत रहती हैं। सूक्ष्म शरीर की, स्थूल शरीर के साथ, मृत्यु न होने से, वह चित्त बराबर हजारों लाखों वर्ष से, जीवात्मा के साथ, बना रहता है और इसलिये अतीत (भूत) काल की स्मृति आदि भी, उस में, बनी रहती है। साधारण पुरुष उन्हें नहीं जान सकता परन्तु संयम करने से योगी के लिये, चित्त की स्मृति आदि का, पुराना भंडार ऐसा ही प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे संसार के अन्य वर्तमान पदार्थ।

अनागत की सत्ता, फल अथवा कार्य्य-रूप में, होती है और उस का कारण, मनुष्य के वर्तमान और भूतकालिक किये जा रहे और किये गये कर्म, हुआ करते हैं। मनुष्य जितने भी कर्म करता है वे सब भी चित्त में अङ्कित रहते हैं और इन्हीं को कर्म की रेखा कहते हैं। योगी संयम द्वारा चित्त को साक्षात

कर के उन्हें और उन के द्वारा आयन्दे होने वाले इष्ट या अनिष्ट को भली प्रकार जान लिया करता है। इस प्रकार अतीत और अनागत दोनों का ज्ञान योगी को हो जाया करता है। इस में कुछ भी असम्भवता या अस्वाभाविकता नहीं है। अवश्य कोई भी योगी अतीत और अनागत का उतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है जितना ईश्वर को है, सो इसका दावा भी, विभूति सूचक सूत्र में, नहीं किया गया है।

दूसरी विभूति—दूसरी विभूति यह है कि योगी को अन्य प्राणियों (पशु पक्षी आदि) की बोली का ज्ञान हो जाता है। यह कुछ बहुत विलक्षण बात नहीं है। अनेक विद्वान्, जिन्होंने, अपना समय, पशु पक्षियों के विवरण जानने में, व्यय किया है, बहुत से पशु पक्षियों की बोली; समझने लगते हैं।

चौथी विभूति—दूसरों के चित्त का ज्ञान प्राप्त कर लेना योगियों के लिये तो कुछ भी दुस्तर नहीं है जब कि आकृति विद्या (Science of facial expression) आदि के जानने वाले अयोगी विद्वान् भी, बहुत सी बातें, दूसरों के चित्त की इन विद्याओं की सहायता से जान लिया करते हैं।

नवमी विभूति—"सूक्ष्म, व्यवहित (आड़ में रहने वाली, चीजें) और दूर का ज्ञान हो जाना।" ये सूक्ष्म और व्यवहितादि शब्द, आँखों की योग्यता को कसौटी मानकर बनाये गये हैं। आँखों की रोशनी के लिये दीवार मनुष्य-शरीर आदि बाधक हैं। और वे आँख के प्रकाश को रोक लेते हैं उसे

पार नहीं जाने देते। परन्तु ऐसी रोशनी हैं जिनके लिये शरीरादि बाधक नहीं हैं जैसे "ऐक्स-रे" (X-Ray) जब योगी इतना शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि मन और चित्तादि से उसी प्रकार काम ले सके जैसे कि आँखों से लिया जाता है तब उसके लिये शरीर और दीवार आदि की आड़ नहीं रहा करती और उसे सूक्ष्म, दूर और आड़में होने वाली वस्तुओं का ज्ञान होजाया करता है।

दसवीं विभूति—"सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान हो जाना।" शरीर के अन्दर, जो रीढ़ की हड्डी में, नाड़ी है उसे सुषुम्णा या ध्रुव और उसके इधर उधर जो नाड़ियां हैं उन्हें इडा और पिंगला कहते हैं। इन्हीं का पारिभाषिक नाम ध्रुव, चन्द्र और सूर्य है, इन्हीं नाड़ियों में से सूर्य नाड़ी में संयम करने से भुवन का ज्ञान होजाता हैं। यह बात कुछ भी आश्चर्य्य की नहीं रहती यदि बेतार की तारवर्क़ी (Wireless telegraphy) की कार्य्य-प्रणाली को समझ लिया जावे। उसका बहुत स्थूल रूप यहां दिया जाता है।

बेतार की तार वर्क़ी की स्थूल-कार्य्य प्रणाली—इस कार्य्य प्रणाली का सुगमता से ज्ञान हो जाय इसके लिये चित्र (ज) और (ट) देखिये:—

१—"अ,क,ख" बेतार की तारवर्क़ी का खम्भा है। "त, ।," दूसरा खम्भा है जहाँ खबर भेजनी है।

अ
वायु
वायु
वायु
वायु
वायु
चित्र ट
क
त
वायु
वायु
वायु
वायु
चित्र ज
थ
न
ध
प
द
ख
च
छ
ग
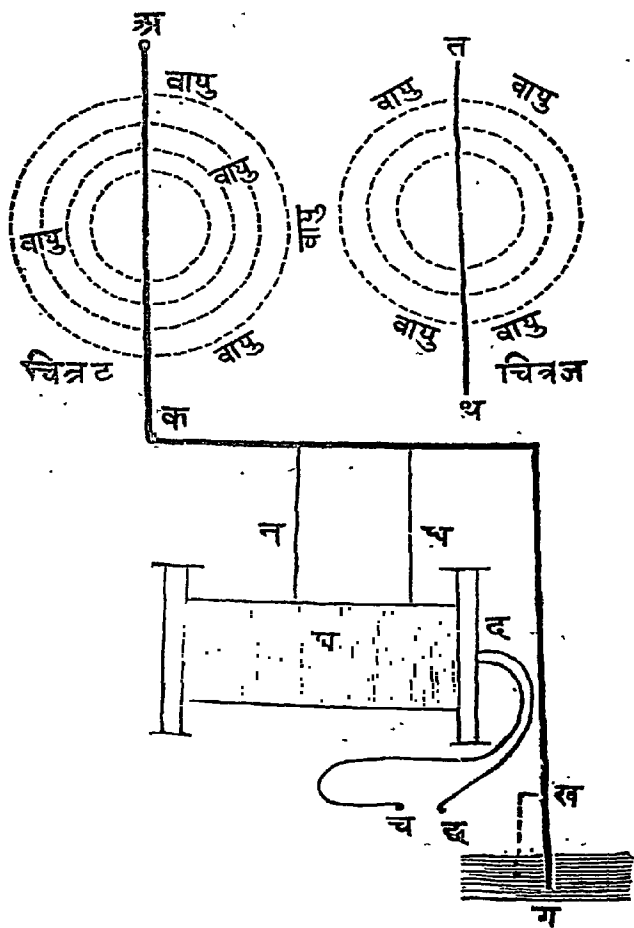
२—अ क वायु में सीधा खड़ा रहता है, उसका सिरा (अ) ऐसे मसाले से भर दिया जाता है जिस से बिजली इस रास्ते से खम्भे से निकल न सके।

३—"घ" जहाँ बहुत वेग के साथ बिजली पैदा होती है।

४—च और छ वे पुरजे हैं जहाँ बिजली की चोटें उत्पन्न होती हैं अर्थात् ऊपर का पुरजा 'च' नीचे के पुरजे 'छ' से इतने वेग से टकराता है कि प्रति क्षण अनेक चोटें उत्पन्न होती रहती हैं।

५—ग. पृथिवी है और ख के द्वारा "अ क" का सम्बन्ध पृथिवी से है। "अ क" एक तरफ वायु से और दूसरी ओर पृथिवी से सम्बन्धित है।

६—"घ"में विद्युत् उत्पन्न होता है और उसी विद्युत् से "च," "छ" से टकराकर, शीघ्रता से, चोटें मारता है। उन चोटों के प्रभाव से उत्पन्न हुआ विद्युत "अ क" तक "द, ध, न" के रास्ते से पहुँच कर नीचे ऊपर घूमने लगता है। यदि अ क की नोक 'अ' खुली होती तो बिजली, उधर से निकल कर, वायु में चली जाती,- परन्तु उसके बन्द होने के कारण, वह विद्युत्, उसी अ,क खम्भे में वेग पकड़ता है और अत्यन्त वेगवान होजाने पर "अ,क" खम्भे के चारों ओर वृत्ताकार होकर घूमने लगता है जैसा चित्र (ट) में दिखाया गया है। "अ क" में धनात्मक(Positive) और ऋणात्मक (Negative) बिजलियां, एक दूसरे के बाद, घूमा करती हैं। इसी विद्युत

में जो समाचार कि "त थ" में भेजना है, वह मौजूद रहता है। वायु में भी दोनों प्रकार का विश्वव्यापी विद्युत् रहता ही है। इस लिये "अ,क" के चारों ओर घूमने वाला सन्देशपूर्ण विद्युत, वायुवाले विद्युत् में, होकर "त थ" के चारों ओर उपरोक्त प्रकार से घूमने वाले विद्युत् में पहुँच जाता है और इस प्रकार वह सन्देश पूर्ण विद्युत् "त थ" खम्भे में पहुँच जाता है जैसा कि चित्र (ज) में दिखाया गया है। और सन्देश जहां भेजना था वहां वह ले लिया जाता है।

विभूति का विवरण

यह है बेतार के तारवर्की की कार्य्य प्रणाली। इसको लक्ष्य में रखते हुये, जब हम शरीर पर, दृष्टि डालते हैं तो वह भी विद्युत् का एक यन्त्र कहा जा सकता है। मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में से एक ओर धनात्मक, और दूसरी ओर ऋणात्मक विद्युत् बहता और उत्पन्न होता रहता है। पृथ्वी और सूर्य्य में उपस्थित ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत्, शरीर के विद्युत् को खींचते रहते हैं। प्राणायाम करते हुये जब बल पूर्वक रेचक और देर तक ठहरने वाला बाह्य-कुम्भक किया जाता है, और दुहराया तिहराया जाता है तब शरीर पसीना पसीना हो जाता है, नसें तड़पने लगती हैं, रक्त में उबाल सा आने लगता है, चेहरा सुर्ख हो जाता है, हृदय की धड़कन मध्यम पड़ने लगती है, नब्ज छूटने सी लगती है और हृदय तथा मस्तिष्क दोनों में विद्युत् का वेग बहुत बढ़ जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुये शरीर की तुलना बेतार की तारवर्की यन्त्र से करो।

शरीर और यन्त्र की समता

सुषम्णा का निचला भाग मूलाधार पृथ्वी स्थानीय है और यहीं से इडा और पिंगला (चन्द्र+सूर्य्य) एक दूसरे को काट कर मस्तिष्क की ओर चलती हैं। इन नाड़ियों को "अ,क,ख" स्कन्ध स्थानी समझें। इनकी ऊपरी नोक अ "ब्रह्मरन्ध्र" चक्र है। जिस "घ" प्रकार में विद्युत् उत्पन्न होकर "अ,क,ख" में पहुँचता है इसी प्रकार, योगी, प्राणायाम के द्वारा, उदय होते हुये सूर्य्य से, विद्युत् ग्रहण करने के अभ्यास से, वहु मात्रा में विद्युत् ग्रहण करता तथा उसमें रेचक और पूरक द्वारा चोट लगने के सदृश, वेग उत्पन्न करता इस वेग में आये हुये विद्युत् को, कुण्डलिनी मुद्रा के अभ्यास से, योगी सूर्य्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों में ब्रह्मरन्ध्र की ओर भेजता है। इस अभ्यास को करते हुये योगी, गीता के निम्न वाक्यानुकूल, अपने शरीर के सभी द्वारों को जहाँ से विद्युत और प्राण बाहर जा सकते थे, वन्द किये रखता है:—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योग-
धारणाम्॥ (गीता ८। १२)

जिस प्रकार "अ" नोक के वन्द होने से विद्युत् की चोटों के निकलने का मार्ग वन्द रहता है इसी प्रकार इन सूर्य्य, चन्द्र और ध्रुव, शरीर में खड़ी नाड़ियों के द्वार, बन्द होने से विद्युत् बाहर न जाकर इन्हीं नाड़ियों और शरीर के चारों ओर घूम कर

वायु में रहने वाले विश्वव्यापी विद्युत् से मेल करके, उनके अन्तर्गत जो भी क्रियायें, होती हैं अथवा जो कुछ उनके अन्दर निहित होता है, उन सब परोक्ष की बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इन क्रियाओं के साथ योगी, अपनी धारणा, ध्यान और समाधि से उत्पन्न शक्ति को भी सूर्य्यादि नाड़ियों में (संयम द्वारा) लगा कर, इन क्रियाओं में, सीमा और अत्यन्त उत्तेजना भी पैदा कर देता है जिससे इष्ट सिद्धि में और भी अधिक सुलभता हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि सूर्य्य नाड़ी में संयम करके योगी शरीर से बाहर परोक्ष रूपी भवन का ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है।

ग्यारहवीं और बारहवीं विभूतियों में आये तारा व्यूह का अर्थ शरीरस्थ सूक्ष्मातसूक्ष्म नाड़ी हैं जो इन्हीं सूर्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों से मिल कर नाड़ी गुच्छक (Nervous System) और सूर्य्यादि चक्र (Plaxus) बनाती हैं जिनका और जिनकी गति आदि का ज्ञान, इन्हीं चक्रों द्वारा, सूर्य, चन्द्र और ध्रुव नाड़ियों में संयम से, योगी को हो जाया करता है।

तेरहवीं विभूति नाभि, शरीर का केन्द्र, समझी और मानी जाती है। केन्द्र में संयम करने से शरीर रचना का ज्ञान हो जाना स्पष्ट ही है। अन्य विभूतियों के सम्बन्ध में जो ज्ञातव्य था वह सूत्रों की व्याख्या में अङ्कित किया जा चुका है। सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध योगी की अपूर्व योग्यताओं का वर्णन करने के बाद, अब असम्प्रज्ञात योग की ओर चलना चाहिये और देखना चाहिये कि चित्त की वृत्तियों का निरोध, किस प्रकार किया जा सकता है।

चित्त की वृत्तियों का निरोध

जिस समय, चित्त की वृत्तियों की, एकाग्रता हो जाने से, मन और इन्द्रियां, योगी के वश में हो जाती हैं, तब वह अपनी उपलब्ध सामर्थ्य से, मन और इन्द्रियों के काम को बन्द करके, जागृतावस्था को, सुषुप्तावस्थावत् बना देता है। इसका फल यह होता है कि मन और इन्द्रिय दोनों का, काम रुक जाने से, आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का काम बन्द हो जाता है। दोनों वृत्तियों में से, एक न एक सदैव जारी रहती हैं, जैसा पहला कहा जा चुका है, इसलिये बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द होने का अनिवार्य्य फल यह होता है कि अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो जाती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत होने का तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो गईं। इतना जान लेने पर अब यह बतलाने चेष्टा की जाती है कि साक्षात् साधन, चित्त की वृत्तियों के रोकने के, क्या हैं ?

चित्त की वृत्तियों के रोकने के कुछ एक सहायक साधन

किस साधन से कौन सी वृत्ति निरुद्ध हो जाती है, अब यह बतलाया जाता है:—

चित्त की वृत्तियां ५ हैं। उनमें से

(१) स्मृति वृत्ति का निरोध, आसन की सिद्धि और प्राणायाम के अभ्यास से, होता है।

(२) निद्रावृत्ति का निरोध, प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास से, होता है।

(३) विकल्प वृत्ति का निरोध, ध्यान से, होता है।

(४) विपर्यय वृत्ति का निरोध, समाधि से, होता है। इस प्रकार इन ४ वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से, पांचवीं प्रमाण वृत्ति स्वयमेव निरुद्ध हो जाती है।

वृत्तियों के निरोध का कोशों पर प्रभाव

(१) स्मृति वृत्ति के निरोध से, अन्नमय कोष का आवरण, बाधा रहित हो जाता है।

(२) निद्रा वृत्ति के निरोध से, प्राणमय कोष निर्दोष हो जाता है।

(३) विकल्प वृत्ति के निरोध से, मनोमय कोष का परित्याग हो जाता है।

(४) विपर्यय वृत्ति के निरोध से, विज्ञानमय शरीर परित्यक्त हो जाता है।

इस प्रकार बचा हुआ केवल आनन्दमय कोष होता है जो अन्त में शरीर के साथ छूट जाता है।

वृत्तियों के निरोध होने पर योगांगों का अवस्थाओं पर प्रभाव

(१) प्राणमय से, जागृत अवस्था पर।

(२) प्रत्याहार से, स्वप्नावस्था पर।

(३) धारणा से, सुषुप्तावस्था पर।

(४) ध्यान से मूर्च्छावस्था पर।

(५) समाधि से, मृत्यु पर।

अधिकार प्राप्त करके योगी स्वेच्छया अपने स्वरूप (आत्म स्वरूप) में प्रतिष्ठित होता है।

आसन की सिद्धि का अभिप्राय

स्मृति के निरोध के लिये आसन की सिद्धि की बात ऊपर कही गई है। जहां तक राजयोग का सम्बन्ध है, आसन साधने के लिये अनेक प्रकार के आसनों के अभ्यास की जरूरत नहीं है किन्तु पद्मासनादि में से किसी एक आसन में ४ घण्टे ४८ मिनट या कम से कम ३ घण्टा ३६ मिनट पर्यन्त विना दुःख और विना किसी अंग के हिलाये बैठे रहना, यह आसन की पूर्वाङ्ग सिद्धि है। इसके बाद अन्नमय (स्थूल) शरीर का संयमन करके उसी आसन में, विना गिरे (लेटे), सो सकना यह आसन की अन्तिम सिद्धि है।

चित्त की वृत्तियों के निरोध पर्यन्त विवरण देने के बाद अब यह बतला देना आवश्यक है कि किस प्रकार कोई नया आदमी जिसे योगाभ्यास करने की इच्छा हो, अभ्यास कर सकता है।

योगाभ्यास का क्रियात्मक रूप, यमों का साधना

सब से पहली बात, जो जिज्ञासु में होनी चाहिए, और जिसके विना, कोई भी, योग की दुनियाँ में, दाखिल नहीं हो सकता, श्रद्धा है। किसी पुरुष को भी, जिसका हृदय श्रद्धा से शून्य है, योग नहीं आ सकता।

श्रद्धा

श्रद्धा किसे कहते हैं। श्रद्ध (श्रत+धा) सचाई के धारण करने का नाम है। सचाई का ज्ञान तर्क से हुआ करता है और ज्ञान होने पर उसे हृदय में धारण कर लेना, श्रद्धा कहलाता है। हृदय में धारण कर लेने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य उस के विपरीत आचरण न कर सके। श्रद्धा रखते हुये सब से पहले, यमों के हृदय में धारण करने का, अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास किस प्रकार हो? यमों में से एक अहिंसा को लेकर, वह प्रकार बतलाया जाता है:—

(१) सब से पहिले अहिंसा के ग्रहण और धारण करने की प्रबल इच्छा मनुष्य के हृदय में होनी चाहिये।

(२) उसे ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन करते रहना चाहिये जिस में अहिंसा की श्रेष्ठता बतलाते हुये, हिंसा के दोष दिखलाये गये हों।

(३) अभ्यासी जहाँ रहता हो वहाँ मोटे अक्षरों में "अहिंसा परमो धर्मः"। इस या ऐसे ही वाक्यों को, आमने सामने, इधर उधर, चारों ओर मोटे कागज़ पर लिख कर टाँग ले, जिस से बिना इच्छा के, अनायास, अभ्यासी की दृष्टि, उस पर पड़ती रहे।

(४) प्रातः काल उठते ही, बिस्तर छोड़ने से पहले, उसे अहिंसा पालन रूप व्रत को धारण करते हुये, ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि उस का प्रयत्न सफल हो। उसे उच्च स्वर से

३ वार यह उच्चारण करना चाहिये कि "मैंने अहिंसा पालने का व्रत लिया है; मैं कदापि कोई कार्य्य उस व्रत के विपरीत न करूँगा"। और समयों में भी इस व्रत का स्मरण करते रहना चाहिये।

(५) रात्रि में सोते समय फिर उपर्युक्त वाक्य को, उस के एक एक शब्द को, भली प्रकार ध्यान में रखते हुये, उच्च स्वर से, उच्चारण कर के, ईश्वर से, उस की पूर्ति की प्रार्थना, करते हुये, सो जाना चाहिये, इस प्रकार, कि सोते समय के अन्तिम विचार, यही हों।

कम से कम एक मास तक, इस क्रिया को, इसी प्रकार काम में लाना चाहियें। इस के बाद अहिंसा के साथ सत्य को शामिल कर के पूरे दूसरे मास में अहिंसा और सत्य दोनों के, सम्मिलित व्रत के ग्रहण करने की चेष्टा, करनी चाहिये। जो अहिंसा परक वाक्य कमरे में चारों ओर लगाये गये थे अब उस के स्थान में यम परक पूरे सूत्र को जिस में पाँचों यमों का वर्णन है[1] लगा लेना चाहिये। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये कि कोई काम इस व्रत के विपरीत न हो। यदि कभी भूल से कोई विपरीत कार्य्य हो जाय तो उस का उसी दिन प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।[2] दो मास बीतने पर अब

---

(१) सूत्र ३० पाद (२)

(२) ऐसे अवसरों पर दो प्रकार के प्रायश्चित्त उपयोगी होते हैं। (क) या तो एक दिन उपवास कर लिया जाय (ख) या रात्रि में दो घण्टे सार्थक गायत्री मन्त्र जप लिया जावे।

पाँचों यमों को अपने वृत्त में सम्मिलित कर के उन सब का उपर्युक्त भाँति अभ्यास करे। यह अभ्यास (सम्पूर्ण) तीसरे मास तक जारी रखना चाहिये। यह यमों का प्रारम्भिक अभ्यास है।

नियमों का अभ्यास

यम के अभ्यास में ३ मास व्यतीत कर के, ३ मास नियमों के अभ्यास में, इस प्रकार व्यतीत करने चाहियें कि यम वाले सूत्र के साथ नियम वाले सूत्र को[1] शामिल कर के अब चौथे मास से, अत में, दोनों सूत्रों को, सम्मिलित कर के, समस्त उपर्युक्त क्रियायें दोनों सूत्रों के सम्बन्ध में करनी चाहियें। इस प्रकार छः मास तक, तो पूर्ण तत्परता से, ये अभ्यास करने चाहियें। उस के बाद इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि यम और नियम के विपरीत आचरण करने से अभ्यासी कभी योगी नहीं बन सकता, इसलिये उन्हें (यम नियमों को) सदैव ध्यान में रखते हुए दूसरी क्रियायें करनी चाहियें।

आसन का अभ्यास

यम और नियमों के अभ्यास के साथ साथ ही आसन और प्राणायाम दोनों का अभ्यास किया जा सकता है। आसन का अभ्यास पद्मासन[2] से शुरू करो। पद्मासन से बैठ कर बिना हिले

---

(१) देखो योग दर्शन पाद २ सूत्र ३२।

(२) यदि किसी को किसी कारण से यह पद्मासन अनुकूल न

जुले, बिना शरीर की स्थिति बदले, जितनी देर बैठ सकते हो बैठो। जब न बैठ सको तब आसन-भंग करके किसी प्रकार से भी बैठ कर दो चार मिनट आराम लेकर, फिर उसी आसन का अभ्यास शुरू कर दो। कम से कम दो घण्टे तक यह अभ्यास करते हुए देखो कि कितनी बार तुम्हें आसन-भंग करने के लिये विवश होना पड़ा। दूसरे दिन इच्छा रक्खो कि उससे कम मात्रा में आसन भंग हो। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आसन के भंग होने की मात्रा, कम करते करते यहाँ तक पहुँच जाओ, कि दो घण्टे में, एक बार भी आसन भंग न करना पड़े। जब दो घण्टे, एक आसन से बैठने का अभ्यास पूरा हो जावे, तब इस अभ्यास को बढ़ा कर कम से कम इतना कर लेना चाहिये कि जिससे ३ घंटा ३६ मिनट तक एक आसन से बैठा जा सके। इतना अभ्यास कर लेने से आसन सिद्ध हुआ समझा जा सकता है।

प्राणायाम का अभ्यास

आसन के अभ्यास के साथ साथ ही प्राणायाम का अभ्यास भी शुरू किया जा सकता है। अच्छा तो यह होता है कि एक घण्टा एक आसन से बैठने का अभ्यास कर लेने के बाद प्राणायाम शुरू किया जावे। प्राणायाम का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि पहले केवल रेचक का अभ्यास किया जावे अर्थात् नियमित आसन से बैठ कर मुँह बन्द रखते हुए नाक से श्वास

हो तो वह अन्य किसी सुगम आसन से बैठ कर यह अभ्यास कर सकता है। शीर्षासन आदिकों की गणना, सुगम आसनों में, नहीं है।

निकाल दो, कुछ क्षणों के बाद फिर निकाल दो। इस प्रकार बीच बीच में बहुत थोड़ा थोड़ा अवकाश दे दे कर श्वास निकालते रहो, जब इसमें असाधारणता न मालूम पड़े, तब इसे छोड़ कर पूरक (श्वास भीतर लेजाने) का अभ्यास करो और यह भी रेचक की तरह थोड़ा थोड़ा अवकाश देकर, बराबर करते जाओ। जब इसमें भी असाधारणता न मालूम पड़े तो इसे छोड़ कर अब पूरा प्राणायाम करना शुरू कर दो। इस प्रकार कि पहले रेचक करो और रेचक करके बाह्य कुम्भक करते हुए बिना श्वास लिये रहो। जब चित्त घबड़ाने लगे तब पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक रखते हुए श्वास को भीतर ही रोके रक्खो। जब भीतर और अधिक श्वास न रोका जा सके तब फिर रेचक करते हुए दूसरा प्राणायाम शुरू करदो। इस प्रकार प्रारम्भ में यह अभ्यास १५ मिनट से शुरू करके क्रमशः बढ़ाते हुए एक घण्टे तक पहुँचाओ और यत्न करो कि आभ्यन्तर कुम्भक तीन मिनट तक हो जावे। इतना हो जाने पर समझना चाहिए कि अभ्यासी का प्राणायाम की दुनियां में प्रवेश हुआ और अब वह अनेक प्रकार के प्राणायाम कर सकता है। प्राणायाम की जरूरत समाधि पर्यन्त रहती है। जो चित्र नीचे दिया जाता है उससे प्रकट होगा कि प्राणायाम में कितनी उन्नति कर लेने से अभ्यासी, प्रत्याहार आदि योग के अन्तिम अंगों की सिद्धि कर सकता है। प्राणायाम की प्रत्येक क्रिया के साथ, ओ३म् का मानसिक जप करते रहना चाहिये। इस जप का विवरण आगे दिया जायगा।

सं०	योगाङ्ग	पूरक	कुम्भक	रेचक
(१)	प्राणायाम	१२ सेकिंड	३२४ सेकिंड	२४ सेकिंड
(२)	प्रत्याहार	"	६४८ "	"
(३)	धारणा	"	१२९६ "	"
(४)	ध्यान	"	२५९२ "	
(५)	समाधि	"	५१८४ "	"

नोट (२)—रेचक और पूरक का अभ्यास इसप्रकार करना चाहिए जिस से वे उपर्युक्त अवधि ही में पुरे हुआ करें। १५-२० दिन में, ध्यान रखने से, यह होजाया करता है। पूरक और रेचक की मात्रा, आरम्भ में कम की जासकती है परन्तु उनमें निस्बत यही रहनी चाहिए।

नोट (३) कुम्भक की मात्रा, ५१८४ सेकिंड अथवा एक घण्टा २६ मिनट २४ सेकिंड हो जाने पर, समाधि लगना प्रारंभ हो जाता है।

प्रत्याहार—प्रत्याहार का शब्दार्थ पीछे खींच लेना, पीछे हटा लेना, इन्द्रिय-दमन आदि है। यहाँ योग-दर्शन में इस अंग का उद्देश्य यह है कि आत्मा की शक्ति, जो बहिर्मुखी वृत्तिद्वारा, समस्त इन्द्रियों और शरीर के अन्य अंगों में फैली हुई है, उसे एकत्रित करलेना। जिस का फल यह होता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से समागम बन्द हो जाता है और इस प्रकार इन्द्रियां निगृहीत हो जाती हैं। इसकी सिद्धि के दो साधन हैं।

(१) प्राणायाम का अभ्यास बढ़ा कर इतनी योग्यता रेचक पूरक और कुम्भक की कर लेनी चाहिए जो ऊपर वाले चित्र में, प्रत्याहार के सामने, अंकित हैं।

(२) अभ्यासी को, अपने हृदय को, निम्नांकित भावों से भर लेना चाहिए।

(क) मैं आत्मा हूँ। शरीर मेरे कार्यों का साधन औजार की तरह मेरे अधिकार में है।

(ख) मैं शरीर से पृथक् हूँ और शक्ति, विचार और चेतना का केन्द्र हूँ।

(ग) मैं अमर हूँ। मेरा कभी नाश नहीं हो सकता।

समय समय पर सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते सदैव इनका स्मरण करते रहना चाहिए जिस से अभ्यासी को इनका निश्चयात्मक ज्ञान होने लगे। प्राणायाम की पूर्ति और इन तीनों विचारों का, निश्चयात्मक ज्ञान होजाने से, अभ्यासी अनुभव करने लगता है कि उसका इन्द्रियों पर अधिकार है और यह कि इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्बन्ध टूटा हुआ है।

धारणा—धारणा की पूर्ति के लिए ३ प्रकार के अभ्यास का करना आवश्यक है :—(१) प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाते २ पूरकादि की मात्रा उतनी कर लेने से, जो उपर्युक्त चित्र में धारणा के सामने अंकित है, चित्त, भली भांति एकाग्रित हो जाता है।

(२) निम्न भावों से हृदय को पूरित करके उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिये जिससे उनकी सत्यता में कुछ भी सन्देह बाक़ी न रहे।

(क) मैं स्वतन्त्र आत्मा हूं। चित्तादि अन्तःकरण मेरे कार्यों के साधन औज़ार की तरह हैं।

(ख) मैं अन्तःकरण से पृथक् हूँ और उसका स्वामी हूं।

(ग) मैं अमर हूँ समस्त शक्तियों का केन्द्र हूँ। मैं कदापि नहीं मर सकता।

(३) चित्त की एकाग्रता के, कुछ के प्रारम्भिक अभ्यास करके, उन बातों में चित्त लगाना चाहिये जिनका वर्णन योग दर्शन के पहले पाद में ३२ से लेकर ३८ वें सूत्र तक में है।

चित्त की एकाग्रता के प्रारम्भिक अभ्यास—ये अभ्यास दो प्रकार के हैं (१) स्थूल (२) सूक्ष्म। स्थूल अभ्यास यह है कि किसी दीवार या बोर्ड आदि पर एक रुपये के बरबर निशान हरे रंग से बना लो (देखो चित्र (क) पृष्ठ ५२) और उसको नियम से प्रति दिन एक घण्टा या जितना अधिक सम्भव हो चित्त लगा कर देखो और उसे लक्ष्य बनाकर देखते हुए, यत्न करो कि तुम्हारे चक्षुओं की एक एक प्रकाश किरण, उस लक्ष्य के भीतर हो जावे और उस लक्ष्य के बाहर कुछ न दिखाई दे। ३ मास तक अभ्यास करने से, इसमें सफलता होने लगती है। जब (क) लक्ष्य के बाहर कुछ न दिखाई दे तब वही अभ्यास क्रमशः ख, ग, घ, च, छ और ज में करना चाहिये जब यहां तक उन्नति हो जावे
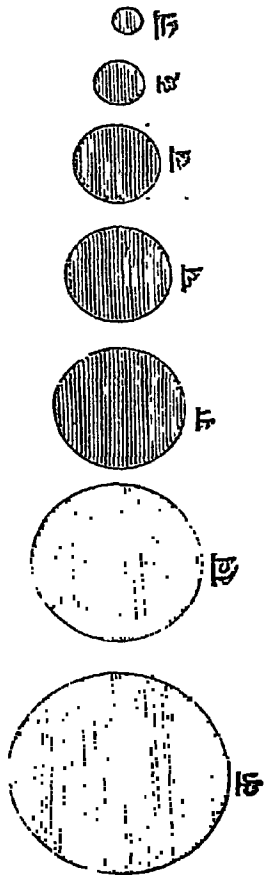
कि (ज) विन्दु के बाहर कुछ न दिखाई देवे तब इस स्थूल अभ्यास को समाप्त समझ कर, इसके बाद का सूक्ष्म अभ्यास करना चाहिये। यह सूक्ष्म अभ्यास यह है कि चित्र (क) को आंख बन्द करके चिन्तन करो। जब अच्छी तरह से यह चित्र जहन में आ जावे तब इसके दो टुकड़े करके, एक को छोड़कर, दूसरे अर्थ चन्द्राकार टुकड़े पर, चित्त लगाओ। जब वह कल्पना में ऐसा ही स्पष्ट हो जावे जैसा लक्ष्य (क) था तब फिर उसके भी दो ख्याली टुकड़े करके उनमें से एक को छोड़ दो और दूसरे टुकड़े पर चित्त लगाओ। जब यह टुकड़ा भी वैसा ही स्पष्ट हो जावे जैसा लक्ष्य (क) था तब फिर इसके भी दो टुकड़े करो। इसी प्रकार टुकड़े करते और एक को छोड़कर दूसरे टुकड़े में चित्त लगाते जाओ। यहां तक कि लक्ष्य (क) का सौवां ($\frac{1}{100}$) टुकड़ा तुम्हें इतना ही स्पष्ट दिखाई देने लगे जैसा लक्ष्य (क), तब समझना चाहिये कि यह सूक्ष्म अभ्यास भी पूरा होगया। इन प्रारम्भिक अभ्यासों के करने से चित्त के एकाग्र कर लेने की कुंजी अभ्यासी के हाथ आ जाती है। अब जिस वस्तु में भी, चित्त एकाग्र करना चाहोगे, हो जायगा। जप से भी चित्त एकाग्र हो जाता है उसका आगे वर्णन होगा।

ध्यान—धारणा के अभ्यासों से चित्त एकाग्र हो जाता है। यह एकाग्रता जब बराबर बनी रहती है तब इसी समावस्था का नाम ध्यान हो जाता है। उसको इस प्रकार समझना चाहिये कि प्रत्याहार और धारणा के अभ्यासों से, अभ्यासी का,

इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों पर, अधिकार हो जाता है। ध्यान की अवस्था प्राप्त होने के लिये अन्तः और बाह्य दोनों करणों का काम बन्द करना चाहिये। जब इनका काम बन्द हो जाता है तब आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति का काम भी, मानों बन्द हो जाता है तब अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जागृत होकर अपना काम करने लगती है और उस समय अभ्यासी का आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अवस्था को प्राप्त कर लेना ध्यान है। धारणा के अभ्यासों तक जितनी क्रियायें बतलाई गई हैं उन सभी का सम्बन्ध अन्तः और बाह्य करणों से रहता है परन्तु ध्यान की सीमा में पहुंचने के अर्थ यह हैं कि इन सब, दोनों प्रकार के करणों का काम बन्द हो गया और ध्यानावस्था में पहुंचने का, इसीलिये, अर्थ यह है कि अब अभ्यासी आत्मरत हो कर आत्मक्रीड़ा में लग गया। इस अवस्था तक पहुंचाने या ध्यानावस्था लाने के लिये प्राणायाम और जप भी साधन हैं। जब अभ्यासी रेचक पूरकादि का इतना अभ्यास कर लेता है जो ऊपर दिए हुए चित्र में ध्यान के सम्मुख अङ्कित हैं तब भी उससे बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर ध्यानावस्था में आने के द्वारा, अन्तर्मुखी वृत्ति का काम, जो केवल आत्मा से सम्बन्धित है प्रारम्भ हो जाता है। जप की बात आगे कही जायगी।

समाधि—आत्मरत हो कर जिस आत्मक्रीड़ा का प्रारम्भ ध्यानावस्था में अभ्यासी करता है उसकी पूर्ति इस समाधि की अवस्था में हो जाती है। इसका भी साक्षात् अभ्यास प्राणायाम

और जप के सिवा और कुछ नहीं है। एक घण्टा या उससे भी अधिक जब योगी बिना श्वास लिये रहने लगता है तब समाधि अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। यदि समाधि घण्टों ही नहीं रहती बल्कि दिनों और सप्ताहों तक पहुँचती है[1]। इसका अधिक

---

(१) बिहार (पटना) के मेडीकल कौलिज में, जो मेडीकल ज्यूरिस प्रूडेन्स (Eedical Jurisprudence) पढ़ाया जाता है, उसमें एक परीक्षण का उल्लेख है:—१८८६ ई० में देहली में डाक्टर एच० सी० सेन और उनके भाई म० चन्द्रसेन म्यूनिसिपल सेक्रेटरी ने एक योगी को, जो पद्मासन से समाधि की अवस्था में बैठा हुआ था, जाँच की। नवज़ बिलकुल बन्द थी, हृदय की धड़कन का भी कुछ चिह्न अवशिष्ट नहीं था। उस योगी को, इसी हालत में उठाकर एक ईंटों से बनी हुई कोठरी में रख दिया गया और देहली के सिटी मजिस्ट्रेट ने, कोठरी का ताला लगाकर उस पर अपनी मुहर कर दी। २३ दिन बीतने के बाद कोठरी खोली गई। योगी उसी अवस्था में बैठा हुआ मिला परन्तु उसके चेहरे से मौत के चिह्न दिखाई देते थे। उसकी खाल कड़ी हो गई थी। वह कोठरी से निकाला गया और मुँह से शहद मला गया और शरीर की तेल से मालिश की गई। सायंकाल को कुछ जीवन के चिह्न दिखाई देने लगे। उसको एक चम्मच दूध पिलाया गया। कई दिन वह मामूली भोजन करने योग्य हो गया और इस जाँच के कई वर्ष बाद तक वह ज़िन्दा देखा गया था।

(Premature Burial by W. Tebb 1896 P. 44 & 45 puoted in tne Lyon's Medical Jurisprudence for India by L. A. Waddrll C. B. p. 79)

वर्णन करना व्यर्थ है। उपनिषद् के शब्दों में इतना ही कह देना काफी है:—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि
यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ (मैत्र्युपनिषद् ६।३४)

अर्थात् मलों के दूर होने पर समाधिस्थ होकर आत्मरत होने से जो आनन्द प्राप्त होता है वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, यह तो स्वयं अन्तःकरण से ग्रहण किया जाता है। अस्तु! क्रियात्मक योग का वर्णन करने के बाद, जप का कुछ वर्णन कर देना आवश्यक है।

जप

जप का आरम्भ योगाभ्यास में प्रारम्भ ही से किया जाता है। इसकी दो सूरतें हैं। प्रारम्भ में तो जप गुण-वृद्धि के लिये किया जाता है और अन्त में वाच्य को हृदय में प्रत्यक्ष करने के लिये। दोनों का विवरण कुछ खोलकर नीचे दिया जाता है:—

जप की पहली सूरत गुण वृद्धि—इस पहली सूरत वाले जप के लिये ईश्वर के ऐसे गुण वाचक नामों को छाँट लिया जाता है जिन गुणों की मनुष्य में आने की सम्भावना होती है। उदाहरण के लिये मित्र, वरुण, आर्य्यमा, ओम् आदि नामों का जप किया जा सकता है क्योंकि इन नामों से ईश्वर की समदृष्टता, श्रेष्ठता

न्याय और रक्षा आदि गुणों का प्रभाव, जप कर्ता की आत्मा पर, पड़कर बार बारके अभ्याससे, वे गुण उसमें आ जाया करते हैं। परन्तु सविता, (रचयिता) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, फलदाता आदि नामों की, जप के लिये, सार्थकता नहीं है। क्योंकि इन नामों से जो गुण प्रकट होते हैं, उनकी मनुष्यों में आने की सम्भावना नहीं है*। इसलिये जप की पहली सूरत यह है कि उससे अर्थ के चिन्तन द्वारा चित्त को एकाग्र किया जावे और अपने में, साथ साथ, गुण वृद्धि भी, की जावे।

जप की दूसरी सूरत परमात्म प्रत्यक्ष—जप की दूसरी सूरत यह है कि वाचक के अर्थ (वाच्य) को हृदय में देखा जावे। यह जप की अत्यन्त उत्कृष्ट और अन्तिम सूरत है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये जप असाधारण मात्रा में किया जाता है। यह असाधारण मात्रा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के भेदों से चार हिस्सों में बँटी हुई है—(१) प्रत्याहार की सिद्धि के लिये यदि ओम् का मानसिक जप लगातार एक आसन से ६६००० बार किया जावे तो सफलता हो सकती है। इसी प्रकार धारणा के लिये १४४०००

---

* राम, कृष्ण आदि का नाम, यदि ईश्वर के नाम ठहराये भी जा सकें, तो भी इनकी जप के लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं है। कृष्ण के अर्थ काले आदि के हैं, इस गुण के मनुष्य में लाने का प्रश्न भी नहीं हो सकता। राम के अर्थ ("रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः" की व्युत्पत्ति से) सर्व व्यापक या सर्वाधार भी किये जावें तब भी यह गुण मनुष्य में नहीं आ सकता।

ध्यान के लिये १७२८००० और समाधि के लिये २०७३६००० वार जपने से योगी सफल मनोरथ हुआ करता है। जप की मर्य्यादा यह नहीं है कि इतनी विस्तृत संख्या कोई गिने, किन्तु नियम के साथ १००० वार सार्थक ओम् का जप करके देख लिया जाता है कि कितना समय इस जप में लगा और इसी हिसाब से पूरे जप की समाप्ति की अवधि निकाल कर जप शुरू करने से पहले भली भाँति समझ लिया जाता है कि इतने काल तक जप में बैठना है। छः घण्टे लगातार एक आसन से बैठकर जप करने से मन की चञ्चलता दूर होकर वह बिलकुल शिथिल और इन्द्रियों से काम लेने से, उदासीन सा हो जाता है। बस इसके बाद जितनी देर भी अधिक बैठा जाता है उससे उतना ही अधिक आत्मिक कल्याण हुआ करता है।

जप और प्राणायाम

प्राणायाम की प्रत्येक क्रिया के साथ ओम् का मानसिक जप किया जाया करता है। जितना ही अधिक जप किया जाता है उतनी ही अधिक कुम्भक की मात्रा बढ़ती जाती है। इस प्रकार प्राणायाम से जप और जप से प्राणायाम की उपयोगिता बढ़ती है। ओंकार का जप ही सर्वश्रेष्ठ जप है इसीलिये योगाचार्य्य पतञ्जलि और इसीलिये वेद ने भी "ओं क्रतो स्मर" (हे जीव ओम् का जप कर) के द्वारा ओंकार के जप का विधान किया है। अस्तु! यहाँ तक पहुँचने के बाद अन्तः और वहिः वृत्तियों को समझने के लिये अन्तःकरणों का समझ लेना आवश्यक है:—

अन्तःकरण

अन्तःकरण इच्छा-शक्ति की प्रेरणानुसार काम करते हैं।

१—इच्छा शक्ति=इच्छा नहीं अपितु शक्ति है। (ईश्वर में यही शक्ति है=ईक्षण+तप)

२—इच्छा शक्ति का विकास उससे काम लेने से होता है। (सन्ध्या में उसका प्रयोग)

इच्छा से काम लेने से तत्काल परिणाम निकलता है।

३—इच्छा शक्ति के विकास से मनुष्य में समता आती है। समता =वासना + चेष्टा का अभाव।

४—इच्छा शक्ति सहस्र दल में मस्तिष्क के ठीक ऊपर रहती है। शक्ति से नीचे बुद्धि (मेधा) का स्थान है। उससे नीचे (मस्तिष्क के मध्य में) साधारण (तार्किक) बुद्धि का स्थान है। वक्ष में हृदय से ठीक ऊपर मन (इन्द्रियों के नियंता) की जगह है। हृदय और नाभि के बीच में चित्त रहता है। इसके नीचे सूक्ष्म-प्राण रहते हैं।

५—इच्छा शक्ति (Will) इन अन्तःकरणों के द्वारा काम करती है।

१ बुद्धि के द्वारा	=विचार+ज्ञान
२ मन ,,	=इन्द्रिय व्यापार
३ चित्त ,,	=भाव (Emotion)+वासना
४ प्राण ,,	=भोग के लिये।

जब इा करणों का काम ठीक चलता है तब शक्ति के काम में वाधा न पड़ने से शक्ति का विकास और वृद्धि होती है। परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि तामसिक उदासीनता और राजसिक (अनियमित) कर्तव्य से बचते रहें।

६—चित्त जब प्राण शेष ३ के व्यापार में दखल देता है तो इन्द्रियों की ग़ुलामी होती है।

जब चित्त शेष ३ के व्यापार में दखल देता है तो भावुकता पढ़कर मन+बुद्धि बेकार होते हैं।

जब मन शेष ३ काम में दखल देता तो वह, केवल इन्द्रिय ज्ञान ही से सब की नाप तौल करता है।

जब बुद्धि (तर्क) उच्च बुद्धि (ज्ञान) में दखल देती है तब श्रद्धा और भक्ति का ह्रास होता है।

जब बुद्धि (उच्च) तर्क के काम में दखल देती है तब मनुष्य अन्धविश्वासी बनता है।

इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक अन्तःकरण अपनी सीमा में रहकर अपना ही काम करे। ये समस्त अन्तःकरण आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति के स्टेशन हैं। इन्हीं के द्वारा इच्छाशक्ति* काम करती है। इसी बहिर्मुखी वृत्ति का रोक देना योग का अन्तिम उद्देश्य है। योग का यही कार्य्य पंच कोशों के एक दूसरे विभाग के द्वारा भी वर्णन किया जाता है उसका विवरण इस प्रकार है।

---

* इच्छा शक्ति आत्मा की उस शक्ति का नाम है। जिसके द्वारा आत्मा कुछ करने या न करने का निर्णय किया करता है।

पञ्च कोश

अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय कोशों को, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश से, पृथक् करता है। विज्ञानमय कोश मानो एक दीवार है जो इन दोनों को पृथक् पृथक् रखता है। पहले ३ कोश (अन्नमय, प्राणमय और मनोमय) मन तक समाप्त हो जाते हैं। विज्ञानमय कोश बुद्धिसे सम्बन्धित है और उस के आगे कारण-शरीर स्थानीय आनन्दमय कोश है, जिसका सम्बन्ध केवल ईश्वरोपासना से है। योग का काम यह है कि ऐसा वातावरण पैदा करदे कि जिससे जो लहर (Vibration) पहले तीन कोशों की ओर से उठती है उन्हें, बुद्धि की जागृति का कारण बनाते हुए, आनन्दमय कोश ग्रहण कर लेवे। प्रारम्भिक अवस्था में, अभ्यासी के लिये, योग का काम यह है कि उसके हृदय में ईश्वर का वह उच्च प्रेम पैदा कर के, जो सांसारिक वासनाओं और प्रलोभनों से सर्वथा पृथक् हो और जो मानस सरोवर में ऐसी लहर पैदा करने का कारण बन जावे जो इन्द्रियों की ओर जाने वाली न हो किन्तु अपने भीतर बुद्धि की ओर चलने वाली हो। इस लहर के द्वारा इच्छा और वासनाओं की दुनियाँ (मनोमय-कोश) का सम्बन्ध, आनन्द और मेल (Harmony) के जगत् (आनन्दमय कोश) के साथ, जुड़ जाता है। यह लहर अन्त में आनन्दमय कोश में जाकर समाप्त हो जाती है और अपनी समाप्ति के साथ ही बहिर्मुखी वृत्ति को भी समाप्त कर देती है और यही योग का अन्तिम ध्येय हुआ करता है।

दश चक्र

अन्तःकरण के उपर्युक्त विवरण के साथ ही चक्रों (Plexuses) का हाल जान लेना भी आवश्यक है। कुण्डलिनी की जागृति का कारण इन्हीं चक्रों में, प्राण पहुंचना है। चक्रों को वैज्ञानिक रूप समझा जा सके, इसके लिये शरीर के अन्तर्व्यापार का कुछ हाल जान लेना आवश्यक है :—

नाड़ी सन्धान—(Nervous system) दो भागों में विभक्त है (१) मस्तिष्क मेरु दण्ड विभाग (The cerebro-spinal system) (२) सहानुभावी विभाग (The Sympathetic system) । पहला विभाग मस्तिष्क से लेकर रीढ़ की हड्डी (Spinal cord) और उसकी शाखाओं से सीमित है। समस्त इन्द्रिय व्यापार इस विभाग के द्वारा होता है।

दूसरा विभाग छाती, पेट और पेट के नीचे के भागों तक है और शरीर का अन्तर्व्यापार इस विभाग का काम है।

पहला विभाग

मस्तिष्क के ३ भाग हैं (१) मुख्य मस्तिष्क (cerebrum) जो खोपड़ी के ऊपर वाले अगले, मध्य और पिछले भागों में रहता है।

(२) दूसरा मस्तिष्क (cerebellum) जो खोपड़ी के नीचे वाले पिछले भाग में रहता है।

(३) तीसरा मस्तिष्क (Medula oblongata) जो मेरु दण्ड का ऊपरी भाग है और दूसरे मस्तिष्क के सम्मुख आगे से शुरू हो जाता है।

मुख्य मस्तिष्क (पहला मस्तिष्क) बुद्धि Intelleect की गोलक है।

दूसरा मस्तिष्क इच्छानुवर्तिनी मांस पेशियों Voluntary muscles) में गति का संचार करता है। वह चित्त का गोलक है।

तीसरे मस्तिष्क या मेरु-दण्ड के छोर और मुख्य मस्तिष्क से ज्ञान तन्तुयें (Cranial nerves) निकलकर और भिन्न भिन्न शाखाओं में विभक्त हो कर शिर, प्रत्येक इन्द्रिय छाती पेट तथा श्वास लेने से सम्बन्धित सभी अवयवों में फैल जाते हैं:—

रीढ़ की हड्डी में जो नाली (Spinal canal) ऊपर से नीचे तक गई है, जिस में गुद्दी भरी रहती है और जिस को मेरु दण्ड (Spinal cord or spinal marrow) कहते हैं, उस में से थोड़ी दूर से ये शाखायें (सन्देशतन्तु) फूटती हैं और तन्तु जाल द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यङ्ग में फैल जाती हैं।

मेरुदण्ड टेलीफोन का मुख्य तार (Telephone cable) है और तन्तु जाल (Emerging nerves) उस से सम्बन्धित निजू तारों के सदृश हैं।

दूसरा सहानुभावी विभाग

इस दूसरे विभाग में नाड़ी गुच्छक (Ganglia) की दो

---

(१) नाड़ी गुच्छक गुद्दी की ढेरी है जिस में नाड़ी घटक भी

श्रृंखलायें (Double chain of ganglia) मेरुदण्ड के दहने बायें दोनों ओर हैं (बाईं ओर वाली=इडा और दहिने ओर वाली=पिंगला)। इन दो श्रृंखलाओं के सिवा शिर, गले, छाती और पेट में भी नाड़ी गुच्छक फैले हुए हैं। ये गुच्छक परस्पर तन्तुओं (Philasments) द्वारा नये रहते हैं। और मस्तिष्क मेरु विभाग से भी ज्ञान और शक्ति तन्तुओं (Motor and sensory nerves) द्वारा सम्बन्धित रहते हैं। इन्हीं ढेरों (Ganlia) से असंख्य तन्तु निकल कर शरीर के अवयवों और रुधिर की नालियों इत्यादि में जाल की तरह फैले रहते हैं। कई स्थानों पर ये तन्तु एकत्रित होकर मिल जाते हैं। जिन्हें नाड़ी ग्रन्थिचक्र (Plexuses) कहते हैं।

दश चक्रों का विवरण

इन चक्रों में प्राणायाम से उत्तेजना पहुंचती है। ये चक्र इस प्रकार हैं:—

(१) मूलाधार चक्र—गुदा के पास है। इस में उत्तेजना प्राप्त होने से वीर्य स्थिर और अभ्यासी ऊर्ध्व-रेता बनता है।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र—मूलाधार से चार अंगुल ऊपर है। इस में उत्तेजना पहुंचने से प्रेम और अहिंसा के भाव जागृत होते हैं। शरीर से रोग और थकावट दूर होकर स्वस्थता लाभ होती है।

शामिल है। Aganglion is a mass of nervous matter including nerve cells).

(३) मणि पूरक चक्र—ठीक नाभि स्थान में है। इस के उत्तेजित होने से शारीरिक और मानसिक दुःख कम हो जाते हैं। मन स्थिर होने लगता है और आत्मा अपने को शरीर से पृथक् अनुभव करने लगता है।

(४) सूर्य चक्र—(Solar plexus) यह चक्र पेट के ऊपर हृदय की धुकधुकी के ठीक पीछे, रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर रहता है इसका अधिकार भीतरी सभी अवयवों पर है। प्राण का कोप इसी चक्र में रहता है। इस पर चोट लगने से मनुष्य तत्काल मर जाता है[1]। मस्तिष्क प्राण के लिये इसी चक्र का आश्रय लेता है। यह चक्र पेट का मस्तिष्क समझा जाता है।

(५) मनश्चक्र—आमाशय से कुछ ऊपर। प्राणायाम में कुम्भक से इस को उत्तेजना मिलती है। तार्किक मनन-शक्ति और इस शक्ति वाले मस्तिष्क का विकाश इस से हुआ करता है।

(६) अनाहत चक्र—हृदय स्थान में है। हृदय के समस्त व्यापार इस से नियमित हुआ करते हैं।

(७) विशुद्धि चक्र—कण्ठ में है। कण्ठ के मूल में जहाँ दोनों ओर की हड्डियाँ आती हैं, बीच में अङ्गूठे के बराबर

---

(१) पहलवान कुश्ती के समय इसी पर पेट लगा कर प्रतिद्वन्द्वी को बलहीन कर दिया करते हैं।

नर्म जगह होती है वही इस चक्र का स्थान है। इस पर संयम करने से वाह्य जगत् की विस्मृति और आन्तरिक कार्य का प्रारम्भ होता है। तारुण्य और उत्साह प्राप्त होता है।

(८) आज्ञा चक्र—दोनों भुओं के मध्य में है। इस से शरीर पर प्रभुत्व, नाड़ी और नसों में स्वाधीनता आती है।

(६) सहस्रार चक्र—तालु स्थान के ऊपर है और समस्त शक्तियों का केन्द्र है।

(१०) अमर गुहा (ललाट) चक्र—ललाट के ऊर्ध्व भाग में है।* सं०, २, ५, ६, और ६ वें चक्रों को क्रमशः, इन्हें, इनके बाद के चक्रों में, सम्मिलित समझ कर अनेक जगह, छः ही चक्र बतलाये गये हैं।

भोजन

मांस, मछली, प्रत्येक प्रकार के नशे, तेल, प्याज, मिर्च, खटाई आदि योगी के लिए अभक्ष्य पदार्थ से हैं। दूध, चावल, जौ, गेहूं मुख्य रीति से उस के भोज्य हैं। आसन अधिक करने वालों के लिये केवल दूध उपयोगी भोजन है। नमक यदि न खाया जाय तो अधिक अच्छा है, अन्यथा थोड़ी मात्रा में खाया जा सकता है।

---

* इन चक्रों में उत्तेजना पहुँचाने के लिये कुण्डलिनी के जागृत करने के अभ्यास किये जाते हैं। राज योग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

ध्यान देने योग्य कुछ बातें

(१) क्रियात्मक योग का विवरण जो ऊपर दिया गया है, यथासम्भव यत्न किया गया है कि सुगमता से समझा जासके और उसके अनुसार कार्य किया जासके। फिर भी कुछ कठिनताओं का आना स्वाभाविक है उनकी निवृत्ति के लिए जानकारों की सम्मति लेनी आवश्यक है।

(२) कई सुगमता-प्रिय कहा करते हैं कि राजयोग में यम नियम के पालन करने का बड़ा झंझट है। इस पचड़े को दूर करना चाहिए। माँग और पूर्ति (Demand & supply) साथ साथ चलती है। इस (यम नियम की) पचड़ दूर करने की माँग ने उसकी पूर्ति करने वाले भी पैदा कर दिये। इस समय कई सम्प्रदाय बन गये जिन्होंने उस (यम नियम वाले) पचड़े को दूर कर दिया और सुगम तरीके चित्त की एकाग्रता के बतला दिये। उनमें से कुछेक का यहाँ उल्लेख किया जाता है :—

(क) शब्द सुनना—कानों को मोम लगी हुई रुई से बन्द करलो और सुनने की इच्छा से शान्त होकर बैठ जाओ। कुछ नाद सुनाई देने लगेगा। प्रारम्भ में वह गूँ, गाँ की भांति ही होता है परन्तु कुछ सप्ताह अभ्यास करने पर वह अच्छे सुरीले बाजे की आवाज की तरह सुनाई देने लगता है। और उस ओर चित्त लगने से, कुछ शान्ति सी प्रतीत होने लगती है इसी प्रकार भीतरी प्रकाश का देखना है। आंख बन्द करके

प्रकाश देखने की दशा से बैठ जाओ और चित्त उसी ओर लगाये रक्खो। पहले कुछ चमक दिखाई देगी उसके बाद प्रकाश दिखाई देने लगेगा।

चेतावनी

इस प्रकार से शब्द सुनने और प्रकाश देखने आदि की क्रियायें सुगम तो जरूर हैं परन्तु उनका मनुष्य के आचार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। एक चोर और व्यभिचारी भी इन शब्दादि को उसी प्रकार सुन सकता है जिस प्रकार एक सदाचारी। परन्तु राजयोग की विशेषता यही है कि उसे चरित्रहीन नहीं प्राप्त कर सकता। वह योग दो कौड़ी का भी नहीं है जिसमें समय लगने और पुरुषार्थ व्यय करने से. अभ्यासी सदाचारी भी, न बन सके। इस लिए योग के अभ्यास की इच्छा करने वालों को चाहिए कि इस सुगम-प्रियता को छोड़ कर अपने को श्रेष्ठ बनाने ही की सद्भावना से प्रेरित हों और ऐसे ही मार्ग का आश्रय लें जिससे उनका कल्याण हो।

अन्तिम शब्द

योग-दर्शन पूर्वी मनो-विज्ञान है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें ऐसे अभ्यास वतलाये गये हैं जिन से मनुष्य अधिकसे अधिक शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति कर सकता है। यदि कोई योग के अन्तिम अंग तक नहीं पहुँचना चाहता तो कुछ हर्ज नहीं है। वह थोड़े से थोड़ा समय, दिन में न सही रात्रि ही में सही, निकाल कर, यम नियमों में से किसी भी एक का जो उसको अधिक से अधिक रुचिकर हो अभ्यास कर

सकता है। उसी एक बात को सिद्ध कर लेना उसके कल्याण का कारण बन जायगा। उस एक बात के सिद्ध कर लेने का मतलब यह होगा कि उस व्यक्ति का हृदय आत्मा की आवाज को सुनता है। याद रक्खो वहाँ शान्ति नहीं रहती और न रह सकती है जहाँ आत्मा की आवाज नहीं सुनी जाती। मनुष्य जब गाढ़ निद्रा में आकर सो जाता है तो वह यदि दुःखि है तो अपने को दुःखी नहीं समझता, यदि रोगी है तो अपने को रोगी नहीं समझता, यदि वह राजा या रङ्क है तो अपने को राजा या रङ्क नहीं समझता। निष्कर्ष यह है कि वह निद्रा के आनन्द में इतना मग्न है कि दुनियां को कोई चीज भ उसे दुःखी या सुखी नहीं बना सकती। यही अवस्था उस अभ्यासी की हो जाती है जो प्रभु के प्रेम में मग्न है और जिसका चित्त उसकी भक्ति में लीन हो रहा है। इस अभ्यासी को भी अब कोई वेदना वेदना नहीं है, कोई सुख सुख नहीं है। वह इन सब से ऊँचा हो चुका है। योग-दर्शन चाहता है कि दुनियां की अशान्तियों से घबराये हुए व्यक्ति थोड़ा अभ्यास करके, इस शान्ति का भी स्वाद चख लिया करें। और इसी का संकेत उसने "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" में किया है। गाढ़ निद्रा की शान्ति तो तम का परिणाम होती है। परन्तु यह ईश्वर प्रेम की शान्ति सत्व का फल होती है। इससे मन प्रफुल्लित होता है, आत्मा में बल आकर उसे उत्कृष्ट बनाता है। संसार के सभी प्राणी उसे ईश्वर के अमृत पुत्र के रूप में दिखाई देते हैं। उसे जितनी शान्ति

रात्रि में रहती है उतनी ही दिन में भी। उसके लिये इन दोनों में अब कुछ अन्तर नहीं है आहा! वे कैसे सौभाग्यशाली हैं जिन्होंने इस रस को चखा या चख रहे हैं !! ईश्वर करे कि इस रसास्वादन की इच्छा अनेक बहिनों और भाइयों को पैदा हो। एवमस्तु!

शमित्योश्म्

बलिदान भवन देहली
माघ कृष्णा ६
संवत् १६८८ वि०

नारायण स्वामी

योग-दर्शन

सभाष्य

योग-रहस्य

समाधि-पाद

(१) योग का उद्देश्य

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अर्थः—(अथ) अब (योग) योग का (अनुशासनम्) आदेश करते हैं।

व्याख्या—"युज्यतेऽसौ योगः।" जो युक्त करे मिलावे उसे योग कहते हैं।

महर्षि व्यास ने योग को "योगस्समाधि" समाधि बतलाया है जो चित्त की विशेष अवस्थाओं में प्राप्त होती है। चित्त की ५ अवस्थायें हैं:—(१) क्षिप्र—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ अनेक

---

(१) दर्शन वेदों के उपाङ्ग कहलाते हैं। योगदर्शनकार ने वेद मंत्रों में वर्णित मूल-शिक्षा (योग) का इस दर्शन में विस्तार किया है। उदाहरण के लिये कुछेक वेद मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं:—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ १ ॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

सांसारिक विषयों में गमन करती है (२) मूढ़-जिसमें चित्त कर्तव्या कर्तव्य को भूल कर मूर्खवत हो जाता है। (३) विक्षिप्त—जिसमें

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥
युञ्जते मन उत युञ्जेत धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ (यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र १-५)

अर्थः—(सविता) ऐश्वर्य चाहने वाला मनुष्य (तत्वाय) तत्व के लिये (प्रथम) पहले (मनः) मन को (युञ्जानः) युक्त करता हुआ (अग्नेः) प्रकाश वाले ईश्वर के (ज्योतिः) प्रकाश को (निचाय्य) निश्चय करके (पृथिव्याः) भूमि (अधि) पर (आभरत्) अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १ ॥

(वयम्) हम (युक्तेन) योग में लगाये हुए (मनसा) मन (शक्त्या), और उपलब्ध सामर्थ्य से (सवितुः) जगत् के उत्पादक (देवस्य) ईश्वर के (सवे) यज्ञ=ऐश्वर्य में (स्वर्ग्याय) सुख प्राप्ति के लिए (प्रवेश करें) ॥ २ ॥

(सविता) वह ईश्वर (तान्) ऐसे (देवान्) विद्वानों को (प्रसुवाति) उत्पन्न करे (यतः) जो (युक्त्वाय) मन को योग

चित्त व्याकुल और व्यग्र हो जाता है। (४) एकाग्र—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ अनेक विषयों की ओर से खिच कर एक ओर लग जाती हैं (५) निरुद्ध—जिस में चित्त की वृत्तियां चेष्टा-रहित हो जाती हैं।

नोट (१)—प्रथम की ४ अवस्थाओं में सत, रज और

में लगाकर (सविता) श्रेष्ठ (धिया) बुद्धि से (दिवम्) दिव्य गुण (स्वः) सुख (बृहत्) महान् (ज्योतिः) प्रकाश को (करिष्यतः) प्राप्त करें ॥३॥

(विप्रा) बुद्धिमान् (होत्रा)-ध्यानी (बृहतः) महान् (विपश्चितः) ज्ञानी (वयुनावित्) उत्कृष्ट ज्ञान युक्त योगी (एकः) उस अद्वितीय (सवितुः) जगत्कर्ता (विप्रस्य) ज्ञानी (देवस्य) ईश्वर की (इत्) ही (मही) श्रेष्ठ (परिष्टुतिः) स्तुति को (युंजते मनः) मन (उत) और (युंजते धियः) बुद्धि को उस में लगाकर (विदधे) धारण करें ॥४॥

(शृण्वन्तु) सुनो (विश्वे) समस्त (अमृतस्य पुत्राः) अमृत पुत्रो ! (ये) जिन (दिव्यानि) ईश्वर के दिव्य धामों को योगी जन (अन्तस्थ) अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं। उसी (पूर्व्यं) पूर्व ऋषियों से सेवित (ब्रह्म) ईश्वर को (श्लोकः) सत्य वाणी से युक्त हो कर मैं (नमोभिः) सत्कार=नम्रता के साथ (युजे) साक्षात् करता हूँ (वाम्) तुम (योग के अनुष्ठान करने और कराने वाले) दोनों (सूरेः) योगियों को (पथ्येव) उत्तमगति के अर्थ (एतु) प्राप्त होवे।

तमोगुण का संसर्ग रहता है, परन्तु ५ वीं अवस्था में इन गुणों का संस्कार-मात्र रह जाता है। इसी अवस्था को प्राप्त होकर योगी "निस्त्रैगुण्य" कहलाता है।

नोट (२)—क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं में योग नहीं हो सकता! एकाग्र अवस्था में योग होता है, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं, वह ४ प्रकार का होता है। देखो इसी पाद का सूत्र २० । निरुद्ध अवस्था में असम्प्रज्ञात योग होता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

अर्थ—योग चित्त की वृत्तियों के रोकने को कहते हैं।

व्याख्या—चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव (शील) होता है (१) प्रख्या=दृष्ट वा श्रुत पदार्थों का विचार (२) प्रवृत्ति=उन पदार्थों (विषयों) के साथ सम्बन्ध (३) स्थिति=विषयों (उन पदार्थों) में स्थिति। "प्रख्या" ३ प्रकार का है:—(१) जब चित्त अधिकतर सत्व-गुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है (२) जब सत्व-गुण के साथ रजोगुण भी चित्त में अधिक होता है, तब योगी धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

नोट—योगी, इस अवस्था को, "परं प्रसंख्यात" कहते हैं।

(३) जब चित्त अधिकतर तमोगुण युक्त होता है तब अधर्म अज्ञान, और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।

जो ज्ञान (चित्त) शक्ति परिणामों से रहित, और शुद्ध होती है वह 'सत्व-गुण' प्रधान होती है। उस में रजो-गुण और

तमोगुण का सर्वथा अभाव (तिरोभाव) हो जाता है। परन्तु चित्त इस वृत्ति से भी उपरत (विरक्त) हो जाता है तब इसे भी त्याग देता है। उस समय केवल सत्व गुण के संस्कार के आश्रय से रहता है। उसी संस्कार शिष्ट दशा को असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्विकल्प समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय के सिवा कुछ भी प्रतीति नहीं होती—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तब द्रष्टा (देखने वाले) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है।

व्याख्या—कैवल्य = मोक्ष में जिस प्रकार ज्ञान शक्ति रहती है उसी प्रकार निर्विकल्प (असम्प्रज्ञात) समाधि में भी यह (ज्ञान) शक्ति रहती है परन्तु उस समय द्रष्टा (जीव) का ज्ञेय, केवल अपना रूप (आत्म-सत्ता) होता है। द्रष्टा का तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है:—

(१) द्रष्टा = चित—विषयों की ओर न जाकर वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से अपने रूप में ठहरा हुआ चित्त।

(२) द्रष्टा = जीवात्मा अपने रूप में ठहरी हुई स्थिति वाला जीव।

(३) द्रष्टा = परमात्मा—जब जीवात्मा अपने रूप में स्थित होने की अपेक्षा आनन्द कन्द, प्रज्ञानघन, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार चाहता है तब उसी चराचर के द्रष्टा (साक्षी) परमात्मा के स्वरूप में उसकी स्थिति हो जाती है।

दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में एक शंका की जाती है कि जब नेत्र अपने को नहीं देख सकता तब जीव किस प्रकार अपने रूप का द्रष्टा हो सकता है ? समाधान इस का यह है कि स्थूल दृष्टि से जीव बाह्य विषयों को और सूक्ष्म (दिव्य) दृष्टि से अपने रूप और परमात्मा को देखता है। इस दूसरे देखने को अनुभव (निदिध्यासन) कहते हैं।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

अर्थ—(इतरत्र) अन्य अवस्थाओं में (वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों के समान रूप होता है।

व्याख्या—निरुद्ध अवस्था के सिवा अन्य अवस्थाओं में जीव चित्त की वृत्ति के रूप को धारण कर लिया करता है।

आत्मा चित्त और चित्त की वृत्तियों से पृथक् है। जब जीवात्मा किसी वस्तु के देखने आदि की इच्छा करता है, तब नेत्रादि के द्वारा, उसकी प्रेरणा से, चित्त की वृत्ति, बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है और इस प्रकार पदार्थाकार हुई चित्त वृत्ति, जिस मार्ग से बाहर गई थी उसी के द्वारा, चित्त (अन्तःकरण) में और चित्त के द्वारा जीव तक पहुँच जाती है और इस प्रकार ज्ञेय वस्तु का ज्ञान जीव को हो जाया करता है। वृत्ति और वृत्तिमान में समवाय सम्बन्ध होने से चित्त ही वृत्ति रूप कह दिया जाया करता है। चित्त अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश है जो यदि रोका न जावे तो लोहे के सदृश विषयों को अपनी ओर खींच लिया करता है इसलिये

उसके निरोधकी जरूरत है। परन्तु जीव स्फटिक मणि (बिल्लोर) की भांति है जो स्वयं तो सदैव शुद्ध रहता है परन्तु बाहर से देखने वालों को, समीपस्थ रूप रंग वाले पदार्थ के सदृश रूप रंग वाला प्रतीत हुआ करता है। इसी वाह्य और स्थूल दृष्टि से जीव को चित्त वृत्ति का रूप धारण करलेने वाला कहा और समझा जाया करता है।

(२) वृत्तियों के रूप

वृत्तयः पञ्चतय्यःक्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

अर्थ—वृत्तियां पांच प्रकार की हैं, वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की होती हैं।

व्याख्या—क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों) की हेतु, वृत्तिको, (जिस से संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध रूप कर्म फल उत्पन्न होते हैं) क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं, और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति पूर्वक, ईश्वर का चिन्तन होता है, अथवा जो वृत्ति गुणाधिकार (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग) से रहित हो, वह अक्लिष्ट कहलाती है—अथवा जो दुःखस्थल में उत्पन्न हों वे क्लिष्ट और जो सुखस्थल में उत्पन्न हो वे क्लिष्ट कहलाती हैं।

प्रत्येक वृत्ति से तदनुकूल संस्कार उत्पन्न होते हैं। पुनः वे संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति फिर संस्कार को और संस्कार फिर वृत्ति को। अक्लिष्ट वृत्ति और उससे बने

संस्कार चक्र मोक्ष प्राप्ति तक का कारण होते हैं परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से संबन्धित क्लिष्ट वृत्तियों में फंसने से मनुष्य दुःख चक्र में पड़ जाता है और अनेक प्रकार के क्लेश भोगता है।

प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा–स्मृतयः ॥ ६ ॥

अर्थ—वे ५ ये वृत्तियें हैं। (१) प्रमाण=यथार्थ ज्ञान का साधन (२) विपर्यय=मिथ्या ज्ञान (३) विकल्प=वस्तु शून्य, कल्पित नाम, यथा "खपुष्प" (आकाश का फूल) (४) निद्रा= सोना (५) स्मृति=पूर्व श्रुत वा दृष्ट पदार्थ का स्मरण।

इन वृत्तियों का व्याख्यान आगे सूत्रों में स्वयं दर्शनकार ने किया है:—

प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥७॥

अर्थ— उन (५ वृत्तियों) में से (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और आगम, प्रमाण वृत्तियाँ हैं।

(१)प्रत्यक्ष—आँख, कान आदि इन्द्रियों द्वारा चित्तकी वृत्तियों का बाहर हो, बाह्य विषय (वस्तु) से संयोग कर और तदाकार हो उसी मार्ग से लौटकर चित्तद्वारा आत्मा को उस वस्तु का ज्ञान कराना, प्रत्यक्ष कहलाता है।

(२) अनुमान—अनुमेय (जिस पदार्थ का अनुमानकरना हो) पदार्थ को समान जाति वालों में मिलाने और भिन्न जातीय पदार्थों से पृथक करने वाले सन्बन्ध को प्रकाशित करने वालीवृत्ति को अनुमान कहते हैं। जैसे. चद्र और तारे घूमते हैं परन्तु हिमालय पर्वत गमन क्रिया रहित है इस लिए चद्र और तारों को

देश देशान्तर में देखने और हिमालय को अन्यत्र कहीं न देखने से निश्चय हो गया कि हिमालय गति रहित है। इसीको अनुमान कहते हैं।

(३) आगम—आप्त (सत्यवक्ता और धर्म-तत्त्ववेत्ता) पुरुष के देखे और अनुमान किये हुए, विषय का शब्दों द्वारा उपदेश आगम वृत्ति कहलाती है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

अर्थ—(अतद्रूप) वस्तु के स्वरूप से भिन्न स्वरूप में (प्रतिष्ठम्) ठहरने वाला मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' कहलाता है।

व्याख्या—अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहाजाता है—इसी को अविद्या=विपरीत ज्ञान भी कहते हैं। इस विपर्यय वृत्ति के ५ भेद हैं:—(१) अविद्या (२) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष (५) अभिनिवेश[1]। इनका व्याख्यान आगे किया गया है (देखो साधन-पाद के सूत्र ३ से ९)।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

अर्थ—शब्द ज्ञान (मात्र) पर (अनुपाती) गिरने वाला (परन्तु) वस्तु से शून्य 'विकल्प' कहलाता है। जैसे—वन्ध्या पुत्र (बाँझ का लड़का), 'खपुष्प'= आकाश का फूल।

---

(१) इन्हीं ५ भेदों को कवि ने इस प्रकार लिखा है:—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥

अर्थात्—अविद्या (मिथ्या ज्ञान) के ५ पर्व सांख्य और योग में वर्णित हैं:—(१) तमस् (२) मोह (३) महामोह (४) तामिस्र (५)अन्ध

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

अर्थ—अभाव के (प्रत्यय) ज्ञान का (आलम्बना) आश्रय लेनी वाली वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या—जागृत कर्तृत्व का अभाव होने से निद्रा को अभाव का सहारा लेनी वाली वृत्ति कहा गया है परन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं है कि वह ज्ञान शून्य वृत्ति है। मनुष्य सोकर उठता है और अनुभव करता है कि मैं सुख पूर्वक सोया। यदि निद्रा ज्ञान शून्य ही वृत्ति होती तो सुख पूर्वक सोने का ज्ञान किस प्रकार हो सकता था।

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

अर्थ—(अनुभूत विषयः) अनुभव में आये विषय का (असम्प्रमोषः) न खोया जाना 'स्मृति' कहलाता है।

व्याख्या—किसी वस्तु की स्मृति का अभिप्राय उस वस्तु के ज्ञान की स्मृति से हुआ करता है। बिना वस्तु ज्ञान के वस्तु की स्मृति असम्भव है। महामुनि व्यास के मतानुसार स्मरण में तीन कारण होते हैं:—

(१) राग अर्थात् सुख निमित्त (२) द्वेष अर्थात् दुःख निमित्त (३) मोह अर्थात् अविवेक। ग्राह्य विषय में प्रसन्नता पूर्वक जो बोध उत्पन्न होता है वह "प्रत्यय" कहलाता है। वह प्रत्यय अथवा ग्राह्य विषय और प्रमाण जिन के द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है; ये दोनों अपने समान संस्कार उत्पन्न करते हैं। वह संस्कार (नेत्रांजनवत्) अपने समान ही अनुभूत विषय और उस के

ज्ञान की स्मृति को उत्पन्न करता है परन्तु उस स्मृति में भी बोध रूप बुधि है।* यह बुद्धि और स्मृति दोनों दो दो प्रकार की हैं:—(१) 'भावित स्मर्तव्य'—स्वप्नावस्था में जो जागृत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है वह 'भावित स्मर्तव्य' स्मृति और बुद्धि कहलाती है। (२) जागृत अवस्था में जो स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है उसे 'अभावित स्मर्तव्य' स्मृति और बुद्धि कहते हैं। समस्त स्मृति इन पांचों वृत्तियों के अनुभव से होती हैं। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर ही योग हो सकता है।

(३) वृत्तियों के निरोध के साधन

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

अर्थ—(चित्त-वृत्तियों के वार वार रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्त की वृत्तियों) का निरोध होता है।

व्याख्या—चित्त रूपी नदी की दो धारायें हैं:—(१) विवेक भूमी में बहती हुई कल्याण (कैवल्य) सागर में गिरती है (२) अविवेक और विषय भूमी में बहती हुई अधर्म सागर में गिरति है। जब ईश्वर के निरन्तर चिन्तन, सत्य के धारण, शास्त्र के अभ्यास और वैराग्य से दूसरी धारा सूख जाती है तब पहली धारा द्विगुण वेग से वहती है और चित की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं।

---

*विषय ग्रहण के ज्ञान को बुद्धि कहते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

अर्थ—उन (अभ्यास) और वैराग्य दोनों में से (चित्त के) स्थिर करने के यत्न को अभ्यास कहते हैं।

व्याख्या—चित्त को वृत्ति रहित करके उसके ठहराने को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति के प्राप्त करने के लिये परमध्येय परमेश्वर में उत्साह और दृढ़ता के साथ चित्त लगाना चाहिये। विघ्न बाधाओं से न कभी दुखी होना चाहिये और न चित्त में ग्लानि लानी चाहिये। इस प्रकार निरन्तर यत्न करने से वह स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसी यत्न का नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४॥

अर्थ—वह (अभ्यास) सत्कार (श्रद्धा) के साथ लगातार चिरकाल पर्यन्त सेवन करने से दृढ़ भूमि (जड़ पकड़े हुए) हो जाता है।

व्याख्या—तप, ब्रह्मचर्य्य और श्रद्धा के साथ जब उस अभ्यास को निरन्तर बहुत काल तक सेवन करते हैं तब वह (अभ्यास) जड़ पकड़ जाता है।

दृष्टाऽऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

अर्थ—देखे और सुने विषयों की तृष्णा से रहित (चित्त का) वशीकार वैराग्य कहाता है।

व्याख्या—सुन्दर स्त्री, उत्तम अन्न पान आदि (दृष्ट) देखे और स्वर्ग की प्राप्ति, दिव्य विषयों का उपभोग आदि (आनुश्रविक) सुने हुये विषयों से सर्वथा तृष्णा रहित होकर चित्त को वश में कर लेने का नाम वैराग्य है। सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य उनके दोषों को बार २ अपनी दृष्टि में लाता रहे। क्यों मनुष्य को इन विषयों की ओर जाना चाहिये ? क्या इनसे तृष्णा की निवृत्ति हो सकती है ? ययाति ने इन प्रश्नों का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया है:—

महाभारत में कथा आई है कि ययाति शुक्राचार्य के शाप से बूढ़ा होगया परन्तु फिर उनकी कृपा से जवान हो गया और उसने चिरकाल तक विषयोपभोग करके अन्त में कहा:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

[महा० अ० ७५-४६]

अर्थात् विषयों के उपभोग से शान्ति नहीं होती किन्तु जैसे घृत डालने से अग्नि की ज्वाला बढ़ा करती है इसी-प्रकार भोग से तृष्णा बढ़ती रहती है। भर्तृहरि के ये वाक्य यहां कैसे अच्छी तरह जुड़ जाते हैं:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

अर्थात् भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु हम ही भोगे गये ।

तप नहीं तपे गये किन्तु हम ही तपे गये। समय नहीं कटा किन्तु हम ही कट गये। तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम ही जीर्ण हो गये।

सांख्याचार्य्य ने भी कहा है:—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेत्यनुवृत्तिदर्शनात्।

अर्थात् दुःखों की निवृत्ति रूप सिद्धि सांसारिक (दृष्ट) पदार्थों से नहीं हो सकती क्योंकि उनसे दुःख निवृत्ति होते ही पुनः दुःख की अनुवृत्ति होना देखा जाता है। अर्थात् भूख की निवृत्ति के लिये मनुष्य भोजन करता है परन्तु भोजन के बाद ही फिर भूख लगनी शुरू हो जाती है।

अस्तु ? इस प्रकार विषयों के दोष पर बार बार दृष्टि रखने से उनसे वैराग्य होने लगता है।

तत्परमपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ—उस परमेश्वर के कीर्तन से गुणों में तृष्णा नहीं रहती।

व्याख्या—वैराग्य की पूर्णता तब होती है जब मनुष्य के हृदय में, ईश्वर प्रेम, अंकुरित होता है। ज्यों ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है त्यों त्यों मनुष्य तृष्णा-रहित होता जाता है और तृष्णा ज्यों ज्यों जीर्ण होती जाती है मनुष्य का हृदय त्यों त्यों वैराग्य का मन्दिर बनता जाता है। वैराग्य दो प्रकार का होता है:—(१) प्रत्यक्ष गुणों से उपरत (वैरागी होना (२) अप्रत्यक्ष गुणों से उपरत होना। पहली विरागता के साधन ज्ञान, और कर्म दोनों हैं परन्तु दूसरी विरागता—अप्रत्यक्ष गुणों से उपरति का साधन केवल ज्ञान है इसी

लिये महामुनि व्यास ने उसे "तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्" कहा है। योगी जब दूसरी उपरति को प्राप्त कर लेता है तब उसका हृदय ईश्वर प्रेम से इतना उत्कृष्ट हो जाता और उपासना की वह उस उच्च गति को प्राप्त करलेता है जिस में व्यास के शब्दों में योगी समझने लगता है कि :—

"प्राप्तम् प्रापणीयम्", "क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः"।
"छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः।"

अर्थात् "जिस की मुझे इच्छा थी उसे पा लिया।" जिनको मैं दूर करना चाहता था वे क्लेश दूर हो गये।" "जिसकी गाँठें सटी हुई थीं, ऐसी संसार रूपी बेड़ी, कट गई।" इसी ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था का नाम वैराग्य है।

(४) समाधि के भेद

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१७॥

अर्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के रूप को, क्रम पूर्वक, प्राप्त करने से, सम्प्रज्ञात समाधि (की सिद्धि) होती है।

व्याख्या:—(१) वितर्कानुगत—चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय लेना। जैसे—घट के कारण मृत्तिका, मृत्तिका के कारण अणु को लक्ष्य बनाना और फिर उस के कारण परमाणु पर स्थूल दृष्टि रखना।

(२) विचारानुगत—चित्त के स्थिर करने में सूक्ष्म आश्रय लेना यथा—शरीर के अन्तर्गत सूक्ष्म अवयवों का विचार करना और

विचारते हुये रजोवीर्य से चेतना की उत्पत्ति असाध्य समझ कर जगत्-कर्ता में अपनी स्थिति का संपादन करना।

(३) आनंदानुगत— स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों (सं० १,२) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और अपने को उन सब से पृथक् जानने से जो संतोष (शान्ति या आनन्द) होता है उसे आनन्दानुगत योग कहते हैं।

(४) अस्मितानुगत—एक जीव ही जिस में विचार्य्य रहता है वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है।

सम्प्रज्ञात योग इन चारों के अनुगत (आश्रित या अधीन) है। इन में से पहला (सवितर्क) स्थूल आश्रय सहित, दूसरा वितर्क रहित और विचारसहित, तीसरा वितर्क और विचाररहित और आनन्द सहित, चौथा वितर्क; विचार और आनन्द रहित केवल अपने स्वरूप (अहम्=जीव) के विचार सहित होता है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

अर्थ—जिस में (पूर्व विराम प्रत्यय) चित्त-वृत्तियों के अवसान मात्र का अभ्यास करते करते (संस्कारशेष) संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं वह (अन्यः) दूसरा (असम्प्रज्ञात) योग है।

व्याख्या—चित्त की समस्त वृत्तियों के अवसान (अन्त) का नाम "विराम" है। विराम प्रत्यय (ज्ञान) के अभ्यास करते २ जब ऐसी अवस्था आजाती है जिसमें चित्तकी वृत्तियों के केवल संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात समाधि है। संस्कार उस गुणको

कहते हैं जो निमित्त के नाश होने पर किंचिन्मात्र शेष रह जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि को निवृत्ति निराश्रय समाधि भी कहते हैं। इसीलिए महर्षि व्यास के लेखानुसार इसका उपाय "निर्वस्तुक आलम्बन" है। अर्थात् अत्यन्त वैराग्य के साथ, निराकार ईश्वर के आश्रय में दृढ़ता प्राप्त करना ही, इस का साधन है। इस साधन को काम में लाने से चित्त अथवा चित्त की वृत्तियों का अभाव सा भान होने लगता है। यह असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि दो प्रकार की है :—

(१) भवप्रत्यय (२) उपाय प्रत्यय।

(५) समाधि की सिद्धि के दर्जे

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

अर्थ—(विदेह) जो देह (की ममता) छोड़ देते और जो प्रकृति में लय हो जाते हैं उन्हें "भवप्रत्यय" नामक (असम्प्रज्ञात) समाधि की सिद्धि होती है।

व्याख्या-विदेह निराकार ईश्वर को भी कहते हैं, अतः विदेहलय का भाव यह हुआ कि वे योगी जो ईश्वर में लीन हो जाते हैं। प्रकृतिलय का भाव यह है कि योगी ने शरीर की ममता इतनी छोड़ दी है मानो उसका शरीर, अपने कारण प्रकृति में, लीन होचुका है। ऐसे योगी ही प्रकृतिलय कहलाते हैं। विदेह का अर्थ यह नहीं है कि शरीर रहित हो जाना जैसा कि कई टीकाकार करते हैं। जनक को भी तो विदेह कहते हैं। क्या वह शरीरधारी नहीं था?

"भव" नाम जगत् का है, "भव" जन्म को भी कहते हैं। भवप्रत्यय का तात्पर्य्य यह है कि वह योगी जिसे शरीर की तो सुध नहीं है परन्तु केवल इतना ज्ञान है कि उस का जन्म हुआ था या वह जगत् में है। व्यास जी ने लिखा है कि ये भव-प्रत्यय-समाधि-सिद्ध योगी, अपने संस्कार से, चित्त द्वारा मोक्ष का सा आनन्द भोगते हैं। जब तक चित्त निरुद्ध रहता है, तबतक आनन्द भोगते हैं, परन्तु जब चित्त इस निरुद्धावस्था से लौटकर अपने अधिकार से प्राकृत पदार्थों में लग जाता है, तब वह आनन्द बाक़ी नहीं रहता।

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

अर्थ—(विदेह और प्रकृतिलयों के सिवा) अन्यों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से (उपाय प्रत्यय नामक दूसरा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध) होता है।

व्याख्या—उपायप्रत्यय वह योग है जो उपाय (पुरुषार्थ) से प्राप्त किया जाता है। उपाय के साधन पाँच हैं :—

१—श्रद्धा=सचाई का धारण करना [श्रत् सत्यं दधाति यासा श्रद्धा (निरुक्त)] मनुष्य के भीतर सत्य (योग) का प्रेम उत्पन्न होकर जब वह (प्रेम) इतना तीव्र हो जाता है कि वह उस सत्यता को आचरण में लाने के लिये विवश सा हो जाता है तब उसके भीतर श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा, योगी की माता के समान, रक्षा करती है। इस श्रद्धा से योगी के भीतर विश्वास और आह्लाद उत्पन्न होता है। उस विश्वास और आह्लाद से योगी वीर्यवान (शक्ति और उत्साह संपन्न) होता है। वीर्यवान् होने से उसके भीतर स्मृति जागृत होती

है और पवित्र पुनीत स्मरण आ आ कर योगी के हृदय को उत्साह से भर देते हैं। इस प्रकार उत्साह से भरा हुआ योगी अपने चित्तको समाहित पाता है। इस प्रकार चित्त के समाहित होने से उसके भीतर प्रज्ञा (बुद्धि=सत्यासत्य विवेक करने वाली शक्ति) का प्रकाश होता है। इस प्रकाश से यथार्थ ज्ञान हो कर योगी तत्वज्ञानी बनता है। इस प्रकार प्रज्ञा और विवेक के निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से योगी को इन उपायों द्वारा असंप्रज्ञात योग की सिद्धिहोती है। ये उपाय-प्रत्यय-सिद्ध योगी तीन प्रकार के होते हैं:—(१) मृदूपाय=अल्प उपाय वाले (२) मध्योपाय=अर्थात् मध्यम उपाय करने वाले (३) अधिमात्रोपाय=अर्थात् उत्तम उपाय करने वाले।

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥२१॥

अर्थ—तीव्र अच्छे वेग वालों को (असम्प्रज्ञात योग)समीप है।

व्याख्या—मृदूपाय योगी भी, तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) मृदु-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार लघु वा शिथिल है।

(२) मध्य-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार मध्यम है।

(३) तीव्र-संवेग—जिन की क्रिया की गति या संस्कार उत्तम है।

ये भेद योगियों के, तप, श्रद्धा आदि क्रियाओं में, अल्प वा तीव्र वेग दिखलाने के कारण से, होते हैं। ऐसेही तीन तीन भेद अन्य मध्योपाय और अधिमात्रोपाय के भी, समझने चाहिएँ।

मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

अर्थ—(तीव्र-संवेग के भी) मृदु, मध्य, अधिमात्र (रूपी तीन तीन भेद) होने से भी विशेष (शीघ्रतर और शीघ्रतम उपायप्रत्यय योग प्राप्त होता) है।

व्याख्या—तीव्र-संवेग के ये जो तीन भेद हैं इन में से उत्तरोत्तर योग की प्राप्ति में शीघ्रता होती है अर्थात् मृदूपाय तीव्र-संवेग की अपेक्षा, मध्योपाय तीव्र-संवेग वाले योगी को, उपाय प्रत्यय समाधि की सिद्धि, शीघ्र होती है और अधिमात्रोपाय तीव्र-संवेग वाले को, उस से भी अधिक शीघ्र योग सिद्ध होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

अर्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति विशेष से (समाधि की सिद्धि होती है)

व्याख्या—जो मनुष्य ईश्वर के प्रेम और चिन्तन में निमग्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं तो इससे उन को समाधि की सिद्धि हो जाया करती है।

ब्रह्म-निरूपण

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

अर्थ—क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से (अपरामृष्ट) असंबद्ध पुरुष विशेष, ईश्वर कहलाता है।

व्याख्या—क्लेश=पाँच क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश।

कर्म=शुभाशुभ कर्म।

विपाक=कर्मफल।

आशय=कर्म और कर्मफल से उत्पन्न वासना, जो जन्म का कारण, हुआ करती है।

पुरुष (जीव) का सम्बन्ध इन क्लेश, कर्म आदि से अन्तः-करण के द्वारा होता है परन्तु ईश्वर जो पुरुष=जीव नहीं किन्तु पुरुष विशेष है, उस का इन से साक्षात् या असाक्षात् किसी प्रकार से भी, सम्बन्ध नहीं। जीव निमित्त विशेष से मन और इन्द्रिय के द्वारा कर्म किया करता है। परन्तु ईश्वर को इस प्रकार के निमित्त प्रभावित नहीं कर सकते। क्योंकि उसके ज्ञान कर्म और बल सभी स्वाभाविक हैं जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"। "केवल-जन[1]" अर्थात् मुक्त जीव भी, इन क्लेशादि से मुक्त, होते हैं तो क्या वे भी पुरुष विशेष (ईश्वर) हो सकते हैं? उत्तर ये है कि नहीं। क्योंकि वे पहले बन्धन में थे। उन की मुक्ति और बन्धन दोनों नैमित्तिक होते हैं परन्तु ईश्वर, स्वभाव ही से, शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वरूप है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[2] ॥२५॥

---

(१) जैन विद्वान अपने तीर्थंकरों को भी "केवलीजन" कहते हैं।

(२) स्वामी हरिप्रसाद ने अपनी वैदिक वृत्ति में इस सूत्र के पाठ में "सर्वज्ञबीजम्" के स्थान में "सर्वज्ञवीजम्" पाठ माना है—अर्थ तो प्रायः व्यास आदि टीकाकारों ने सार्वज्ञबीजम् के ही किये हैं परन्तु

अर्थ—उस (ईश्वर) में (सर्वज्ञबीजम्) संपूर्ण ज्ञान के निमित्त की (निरतिशयम्) अत्यन्ता (सीमा) भी है।

व्याख्या—सर्वज्ञ किसे कहते हैं? व्यास ने उत्तर दिया है कि जिस में (सर्वज्ञबीजम्) सर्वज्ञता का निमित्त (निरतिशयम्) अतिशय (अत्यन्ता) से रहित अर्थात् ससीम हो जाय वह सर्वज्ञ है। भाव इसका यह हुआ कि ईश्वर पूर्णज्ञानी है। कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो उसमें न हो और उससे बाहर नहीं हो।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात् ॥ २६ ॥

अर्थ—वह यह (ईश्वर) पूर्व ऋषियों का भी गुरु है और काल से विभक्त नहीं होता।

व्याख्या—ऋषि दो प्रकार के होते हैं। १—दैव्य-ऋषि २—श्रुत-ऋषि। इन में दैव्य ऋषि वे होते हैं जिन को ईश्वर की ओर से जगत् के प्रारम्भ में ज्ञान मिला करता है और श्रुत ऋषि वे हैं जो पहले ऋषियों तथा उन के प्रचलित किये हुये ज्ञान (वेद) की शिक्षा से ऋषि बना करते हैं। इन्हीं को वेद में पूर्व और नूतन ऋषि कहा गया है[2]। इस सूत्र में ईश्वर को पहले ऋषियों का भी गुरु बतलाया

सूत्र में प्रयुक्त "सर्वज्ञबीजम्" ही आर्ष पाठ प्रतीत होता है क्योंकि स्वामी हरिप्रसाद को छोड़ कर प्रायः सभी ने 'सर्वज्ञबीजम्' ही पाठ माना है।

(१) देखो ऋग्वेद मंडल १० सूक्त ७१

(२) अग्निःपूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति। ॥ऋ० १। १ २॥

अर्थ—वह अग्नि पूर्व (पहले) नूतन (पहलों के बाद हुये) ऋषियों से स्तुति के योग्य है। वह देवों को प्राप्त करता है।

है। मनुष्यों में कालकृत सीमा होती है इसलिये उनके वास्ते यह प्रश्न बना रहता है कि उनका गुरु कौन है। परन्तु ईश्वर कालकृत सीमा से बद्ध नहीं इसीलिये उसे पूर्व ऋषियों का गुरु कहा है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

अर्थ—उस (ईश्वर=वाच्य) का वाचक प्रणव (ओम्) है।

व्याख्या—ईश्वर वाच्य और ओम् वाचक है। अर्थात् ईश्वर अर्थ है और ओम् शब्द है। शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य होते हैं इसलिये ईश्वर और ओम् का वाच्य वाचक सम्बन्ध भी नित्य है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—उस (ओम्) का जप और उस (ओम्) के अर्थ (ईश्वर) का अनुभव।

व्याख्या—क्यों जप करना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि जप करने से ईश्वर के दिव्यगुणों का प्रभाव जपने वालों के हृदय पर पड़ता है और पर्याप्त जप से वह गुण उपासक में आ भी जाते हैं।

मनुष्य यदि प्राणायाम के साथ स्थिर आसन होकर तीन घण्टे निरन्तर जप करे और चित्त को ईश्वर के अनुभव करने में लगाये रक्खे तो यह अनुभूत बात है कि उसका चित्त ठहर जाता है।

(७) योग के विघ्न

ततः प्रत्यक् चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

अर्थ—उस (ईश्वर प्रणिधान और उसके साधन सार्थक

जप) से प्रत्यक चेतना का ज्ञान और (अन्तराय) विघ्नों को अभाव हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्यक् शब्द का अर्थ भीतर है। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह (प्राक्) केवल बाहर का ज्ञान होता है परन्तु 'प्रणिधान' से (प्रत्यक्) भीतर का ज्ञान होता है अर्थात् आत्मा की अन्तर्मुखवृत्ति जागृत हो जाती है। योग की क्रिया करते हुए जिन विघ्नों का योगी को सामना करना पड़ता है उनका विवरण अगले सूत्र में दिया है।

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्याविरति-भ्रान्ति दर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

अर्थ—(१) व्याधि, (२) स्त्यान, (३) संशय, (४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति, (७) भ्रान्ति-दर्शन, (८) अलब्धभूमिकत्व, और (९) अनवस्थितपन; ये चित्त के विक्षेप करने वाले विघ्न हैं।

व्याख्या—चित्त के विक्षेप, स्वयं योग के विघ्न नहीं हैं किन्तु चित्त की वृत्तियों के साथ मिल कर, विघ्नकारक हो जाते हैं। यदि चित्त की वृत्तियां सुप्त या निरुद्ध हों तो ये विघ्न, बाधा नहीं डाल सकते। विक्षेप ये हैं:—

(१) व्याधि—रोगादि, शरीर के वीर्य और रस आदि के बिगड़ने से शरीर में विकलता उत्पन्न हो जाती है।

(२) स्त्यान—जिसमें चित्त दुष्ट कर्म करने का चिन्तन करता है अथवा जिसमें कर्म रहित होने की चेष्टा करता है।

(३) संशय—जो दोनों विरोधी पक्षों का खंडन व समर्थन

करे जिससे मनुष्य द्विविधा में पड़ जाता है कि कोई विशेष काम करे या न करे।

(४) प्रमाद—योग के साधन (उपायों) का चिन्तन न करना।

(५) आलस्य—शरीर या चित्त के भारीपन से, चेष्टा रहित हो जाना।

(६) अविरति—चित्त का, विषय के संसर्ग से, आत्मा को मोहित या प्रलोभित कर देना।

(७) भ्रान्तिदर्शन—मिथ्याज्ञान, कुछ का कुछ देखना या समझना।

(८) अलब्धभूमिकत्व योग या समाधि की भूमियों का प्राप्त न होना।

(९) अनवस्थितत्त्व—योगभूमियों को प्राप्त होकर भी चित्त का स्थिर न होना।

इन्हीं को "नवयोगमल" "योग के प्रति-पक्षी" अथवा "योगान्तराय" अर्थात् "योग के विघ्न" भी कहते हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

अर्थ—(१) दुःख (२) दौर्मनस्य, (३) अंगमेजयत्त्व, (४) श्वास और (५) प्रश्वास; ये विक्षेपों के साथ होने वाले (उपविघ्न या विघ्नों के साथी) हैं।

व्याख्या—(१) दुःख तीन प्रकार के हैं—(क) "आध्यात्मिक"

अर्थात् मन और शरीर के रोग, (ख) "आधिभौतिक" जो दूसरे प्राणियों (व्याघ्र, चोर आदि) से होते हैं (ग) "आधिदैविक" जो इन्द्रियों की चञ्चलता, मन के विकार और अशुद्धता आदि से होते हैं। (२) इच्छा की पूर्ति न होने से मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे "दौर्मनस्य" कहते हैं। (३) आसन के स्थिर न होने से शरीर का हिलना जुलना "अंगमेजयत्व" कहलाता है (४) बाहर के वायु का नासिका के छिद्रों द्वारा भीतर जाना "श्वास" और (५) उसी का बाहर निकलना "प्रश्वास" कहलाता है। ये उपविघ्न विक्षिप्त चित्त वालों ही को होते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

अर्थ—उन (विघ्न और उपविघ्नों) को दूर करने के लिये एक तत्त्व का अभ्यास करे।

व्याख्या—व्यास जी ने चित्त का लक्षण इस प्रकार किया है:—"एकमनेकार्थमवस्थितं चित्तम्" अर्थात् जो एक होने पर अनेक विषयों में स्थित है वह चित्त है। चित्त के अनेक विषयों की ओर जाने का नाम ही विघ्न है। इसीलिये सूत्र में कहा गया है कि एक तत्त्व (अद्वितीय ब्रह्म) का आश्रय लेने से चित्त को एकाग्र करे। चित्त यद्यपि चञ्चल है परन्तु सांसारिक विषयों में उसे एकाग्र होते हुये देखा जाता है इसीलिये उसे ओम् के जपादि में लगाकर भी एकाग्रित किया जा सकता है। इस प्रकार चित्त के एकाग्र करने अथवा विघ्नोपविघ्नों के दूर करने के लिये

एक क्रिया मेरे अनुभव में आई है और वह न केवल मुझे अनुकूल पड़ी किन्तु जिस जिस को भी मैं ने बतलाया इन्हें भी लाभदायक सिद्ध हुई। वह क्रिया यह है:—मनुष्य जिस समय कोई भी अभ्यास करना चाहे तो एकांत में किसी शांत स्थान पर बैठ कर ईश्वर को हृदय में साक्षी रूप समझते हुये प्रतिज्ञा करे कि मैं अमुक क्रिया करूंगा और पूरा किये बिना किसी अवस्था में भी उसे न छोड़ूंगा। इस प्रतिज्ञा को प्रातः-सायं प्रतिदिन दो समय दुहरा लेना चाहिये और अन्य समय में भी उसका चिन्तन करते रहना चाहिये। यदि इतना यत्न करते हुये भी विघ्न उपस्थित हो तो उस मनुष्य को चाहिये कि यह विचार करते हुये कि मैं अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ कर पातकी बनना चाहता हूं, अपने को खूब लज्जित करे और मलामत भी करता जाय। ऐसा करने से उस व्यक्ति के हृदय में, अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करने के लिये, अपने से ग्लानि उत्पन्न होगी और वह भविष्य के लिये बहुत सावधान होकर यत्न करेगा कि अब अपनी प्रतिज्ञा को फिर भङ्ग न करे। योग-दर्शन के वार्तिककार ने एक तत्व का भाव कोई स्थूल लक्ष्य बतलाया है परन्तु वेदादि सत्शास्त्र ईश्वर के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं इसलिये एकतत्व का अर्थ हमने अद्वितीय ब्रह्म ही किया है।

(८) चित्त की एकाग्रता के साधन

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

अर्थ—सुखी पुरुषों में मित्रता, दुखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं पर हर्ष और पापियों में उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

व्याख्या—मैत्री, करुणा और हर्ष से चित्त में उत्साह और शान्ति रहती है और पापियों की उपेक्षा करने से मनुष्य क्रोध से बचता है। उत्साह, शान्ति और क्रोध के अभाव से चित्त की एकाग्रता शीघ्र होने लगती है। यह चित्त के स्थिर करने का पहला उपाय है।

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

अर्थ—अथवा प्राण को (प्रच्छर्दन) बलपूर्वक बाहर निकालने और (विधारण) रोकने से (भी चित्त स्थिर होता है)।

व्याख्या—चित्त के स्थिर करने का दूसरा उपाय प्राणायाम है, प्राणायाम से प्राण वश में होता है और प्राण के वश में होने से चित्त भी ठहरने लगता है[1]।

दिव्या वा विषय प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी ॥३५॥

अर्थ—अथवा (दिव्य) विषय वाली चित्त की वृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

व्याख्या—नासिका के अग्र भाग में, समस्त शक्ति के साथ, चित्त लगाने से दिव्य गन्ध का अनुभव होने लगता है उसे "गन्ध-प्रवृत्ति" कहते हैं। जिह्वा के अग्र भाग में चित्त लगाने से रस का अनुभव, तालु में चित्त लगाने से रूप का (दिव्यदृष्टि), जिह्वा के

(१) प्राणायाम का विस्तार पूर्वक वर्णन साधन पाद के सूत्र ४९,५० तथा ५१ की व्याख्या और उपोद्घात में है।

मध्य भाग में चित्त लगाने से स्पर्शानुभव (दिव्य-स्पर्श), जिह्वा के मूल-भाग (जड़) में चित्त लगाने से शब्द-ज्ञान (दिव्य-श्रवण-शक्ति) होने लगता है। इस प्रकार रस, रूप, स्पर्श और शब्द-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो कर चित्त को स्थिर और संशय को दूर करती हैं। शास्त्र की शिक्षाओं में निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न करने के लिये, अभ्यासी के लिये आवश्यक है कि इन दिव्य विषयों में से, कम से कम एक की सिद्धि कर लेवे जिससे शास्त्र की शिक्षाओं के लिये उसके हृदय में सन्देह न रहे और श्रद्धा पैदा हो जावे। यह उत्पन्न हुई श्रद्धा, माता के सदृश, योगी की रक्षा करती है। यह चित्त के स्थिर करने का तीसरा उपाय है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अर्थ—अथवा शोक से रहित और प्रकाशयुक्त प्रवृत्ति (उत्पन्न हो कर मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है)।

व्याख्या—हृदय कमल में जब प्राण धारण किया जाता है तब योगी की बुद्धि प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत (संकोच रहित) हो जाती है। उस (बुद्धि) में स्थिर होने से सूर्य्य, चन्द्र और मणियों के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त होता है। इस अवस्था में उसकी दशा तरंग रहित महासागर के समान, शान्त और निश्चय होती है और वह प्रभु-प्रेम में मग्न रहने लगता है। इस प्रवृत्ति को प्रकाशयुक्ता (ज्योतिष्मती) प्रवृत्ति कहते हैं। यह चित्त के स्थिर करने का चौथा उपाय है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अथवा राग रहित चित्त (स्थिर हो जता है)।

व्याख्या—किसी वस्तु को प्राप्त करके उसके रखने की इच्छा का नाम राग है। राग से वासना बनती है और वह वासना बंधन का हेतु होती है। उस वासना के चक्र से छूटने का साधन वीत राग होना ही है। यह चित्त के स्थिर करने का पांचवाँ उपाय है।

स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अर्थ—अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आश्रय लेने से (चित्त स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या—स्वप्न में बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता और निद्रा (सुषुप्ति) में बाह्य और अभ्यन्तर दोनों का ज्ञान नहीं रहता। यही स्वप्न और सुषुप्ति की सी अवस्था, जागृत में योगी को, मन को निर्विषय करते हुये, बनानी चाहिये तब चित्त ठहर जाता है। यह छठा उपाय चित्त स्थिर करने का है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अर्थ—अथवा जो अभिमत (इच्छानुकूल) हो उसका ध्यान करने से (भी चित्त स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या—हृदय कमल, नासिकाग्रभाग, नाभिचक्र, ब्रह्मरन्ध्र आदि में जो अधिक से अधिक रुचि के अनुकूल हो उसमें चित्त लगाने से भी चित्त ठहर जाता है। यह सातवाँ उपाय चित्त के स्थिर करने का है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः ॥ ४० ॥

अर्थ—परमाणु और परम महत्त्व तक इस (चित्त) का वशीकार हो जाता है।

व्याख्या—जब उपर्युक्त सात उपायों में से किसी को काम में लाकर योगी चित्त को स्थिर करने में सफलता प्राप्त कर लेता है तब उसका अधिकार हो जाता है कि चाहे तो चित्त को परमाणु जैसी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में लगावे या किसी बड़ी से बड़ी वस्तु में।

(६) समाधि और उसके भेद

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, ऐसे (चित्त)के ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में (तत्स्थ) स्थिर होकर, स्फटिक मणि के सदृश, (तदञ्जनता) उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त (तदाकार) हो जाना समापत्ति (कहलाता है)।

व्याख्या—इस सूत्र में 'समापत्ति' का लक्षण किया गया है। अभिजात (उत्तम जाति के) स्फटिक मणि में, अपना कोई रंग नहीं होता परन्तु उसमें गुण यह होता है कि उसके समीप जिस प्रकार के रंग की भी कोई वस्तु हो वह उसी रंग की दिखाई देने लगती है। उसके समीप यदि 'जवा कुसुम' सुर्ख रंग के फूल को रक्खें तो वह सुर्ख ही सुर्ख दिखाई देने लगती है, इसी प्रकार नीले

पीले आदि रंगवाली किसी वस्तु के समीप रखने से वह वैसी ही दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार चित्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि अपनी पाँचों वृत्तियों से (देखो सूत्र ६) क्षीण होकर, स्फटिक मणि के तुल्य, निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। तब ग्रहीता (अहङ्कार विशिष्ट आत्मा) ग्रहण (इन्द्रियाँ) और ग्राह्य (इन्द्रियों के विषय) जिसमें भी उसे लगावें वह उसी के आकार या स्वरूप को धारण करने लगता है। चित्त की इसी अवस्था का नाम समापत्ति' है। यह समापत्ति चार प्रकार की है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

अर्थ—उनमें जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित हो वह सवितर्का समापत्ति है।

व्याख्या—इन चार समापत्तियों के दो ग्रूप (श्रेणियाँ) हैं:—(१) एक सवितर्का और निर्वितर्का का जो स्थूल विषयों से सम्बन्धित है। (२) दूसरा सविचारा और निर्विचारा जो सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित है। उनमें से प्रथम पहले ग्रूप का वर्णन करते हैं। स्थूल विषयों पर विचार करने के लिये एक 'गो' की कल्पना करो इसमें तीन बातें हैं गो शब्द, उसका अर्थ (पशुविशेष) और इन शब्द और अर्थ को मिलाने से जो कुछ समझा जाता है वह ज्ञान। यदि योगी गो में चित्त लगावे और चित्त लगानेसे जब तक उसके चित्त में इन तीनों के विकल्प रहें अर्थात् ये तीनों (शब्द, अर्थ और ज्ञान)

भिन्न भिन्न प्रतीत होते रहें तब तक उस समाधि को सवितर्का कहेंगे। परन्तु जब समाधिस्थ बुद्धि में अर्थमात्र का ज्ञान रह जाता है तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। अगले सूत्र में उसका वर्णन है:—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

अर्थ—स्मृति के मार्जित होने पर अपने स्वरूप से शून्य सी, अर्थ मात्र का जिस में भान हो; वह निर्वितर्का (समापत्ति है)।

व्याख्या—स्मृति के मार्जित (शुद्ध) होने का तात्पर्य यह है कि उसने बाह्य ग्राह्य विषयों की ओर काम करना छोड़ दिया है इसलिये अभ्यासी को, वस्तु के शब्द की, स्मृति नहीं रहती और इसीलिये शब्द और अर्थ से जो ज्ञान होता है वह भी नहीं रहता और चित्त इस प्रकार ग्रहणात्मक रूप को त्याग देता है और अपने स्वरूप में, ग्रहणात्मक वृत्तियों के निश्चेष्ट हो जाने से, शून्य सा हो जाता है। अब केवल अर्थ (ग्राह्य विषयाकार) स्वरूप से भान होने लगता है। इसी अवस्था का नाम निर्वितर्का समापत्ति होता है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

अर्थ—इस ही (प्रकार) से सूक्ष्म विषय वाली सविचारा और निर्विचारा (समापत्ति) व्याख्यान की गई (समझनी चाहिये)।

व्याख्या—जिस प्रकार किसी स्थूल विषय पर चित्त लगाने और शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के बोध बने रहने को सवितर्का समापत्ति और केवल अर्थ ज्ञान रह जाने को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इसी प्रकार किसी सूक्ष्म विषय पर चित्त लगाने और शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के बोध बने रहने को "सविचारा" और उसी सूक्ष्म विषय के केवल अर्थाकार ज्ञान को "निर्विचारा समापत्ति" कहते हैं। अर्थात् जो किसी (शब्दादि के) आलम्ब से समाधि है वह सविचारा और निरालम्ब अर्थाकार होना, निर्विचारा।

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

अर्थ—और सूक्ष्म विषय, अलिङ्ग (चिह्नरहित कारणावस्था वाली प्रकृति) तक है।

व्याख्या—पञ्च स्थूल भूत और उन के कार्य स्थूल विषय कहलाते हैं। इन पञ्च स्थूल भूतों के बाद सूक्ष्म भूत (शब्द, अर्थ, रूप, रस, गंध), अहङ्कार, महत्तत्त्व और सत, रज, तम, की साम्यावस्था वाली प्रकृति तक सूक्ष्म विषय की सीमा है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

अर्थ—वे ही (चार प्रकार की समापत्ति) सबीज समाधि (कही जाती हैं)।

व्याख्या—स्थूल अर्थ से (१) सवितर्का (२) निर्वितर्का और सूक्ष्म अर्थ से (३) सविचारा और (४) निर्विचारा, चार प्रकार की समाधि है। इन्हें सबीज इसलिये कहते हैं कि इन में चित्त एकाग्र होता है निरुद्ध नहीं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

अर्थ—निर्विचार (समाधि) के नैर्मल्य में (अध्यात्म) बुद्धिसत्व प्रसन्न=निर्मल हो जाता है।

व्याख्या—बुद्धिसत्व, रजोगुण और तमोगुण के आवरण से रहित होने और केवल सतोगुण में स्थित होने से निर्मलता प्राप्त कर लेता है और यह निर्मलता तब स्थिर हो जाती है जब योगी, प्रकृति पर्यन्त समस्त सूक्ष्म ग्राह्य विषयों का, प्रत्यक्ष कर लेता है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अर्थ—इसमें प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा कही जाती है)

व्याख्या- उस निर्मल हुए बुद्धि सत्व (सूत्र ४७) को ऋतम्भरा इस लिये कहते हैं कि वह बुद्धि निर्भ्रम और केवल पूर्ण सत्य को, धारण करने वाली हो जाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

अर्थ—(यह निर्मल ऋतम्भरा प्रज्ञा) विशेष अर्थ वाली होने से, श्रुत (शास्त्र) और अनुमान की प्रज्ञा से, भिन्नविषया (है)।

व्याख्या—शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से, केवल श्रवण, दर्शन और मनन होता है परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से निदिध्यासन (अनुभव या साक्षात् या चखकर स्वाद लेना) भी। इसी लिये उसको पहलि प्रज्ञा से भिन्नविषया कहा गया है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी

अर्थ— इस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों को दूर कर देने वाला (होता है)।

व्याख्या—इस समाधिज प्रज्ञा (ऋतम्भरा) से उत्पन्न हुए संस्कार विषय वासना के संस्कारों को, नष्ट कर देते हैं। उनके नष्ट होने से विषय वासना का ज्ञान भी बाकी नहीं रहता। ये (ऋतम्भरा वाले संस्कार, समाधिज बुद्धि (ऋतम्भरा) को पैदा करते हैं, उससे फिर वही संस्कार उत्पन्न होकर फिर वही समाधिज बुद्धि पैदा होती है। यही क्रम चलता रहता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः ॥ ५१ ॥

अर्थ—उस (ऋतम्भरा वाले संस्कार) के भी रोक देने पर सब के रुक जाने से, निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधि (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—ऋतम्भरा प्रज्ञा से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे, उक्त प्रकार की दृष्टि से निरोधज होते हैं। इन निरोधज संस्कारों के बार बार उत्पन्न होने से निरोध बल इतना बढ़ जाता है कि वे अपने जन्म दाता निरोधज संस्कार का भी, निरोध करने लगते हैं। जब इस प्रकार निरोध के बार २ अभ्यास से निरोधज संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं, तब सबीज (सम्प्रज्ञात) समाधि का बीज भी नष्ट हो जाता है। उस (बीज) के नष्ट होने से निर्बीज समाधि की, स्वयमेव सिद्धि हो जाती है। इसी को असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति कहते हैं।

इति प्रथमः समाधिपादः।

पहला समाधि पाद समाप्त हुआ।

साधन-पाद

(१०) क्रिया योग

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रिया योगः ॥१॥

अर्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर-प्रायणता) क्रिया योग है।

व्याख्या—कष्टों का प्रसन्नत से सहना, नियमित जीवन बनाना, समय विभागानुसार काय करना, तप कहलाता है। कर्म और क्लेश, वासना और उन वासनाओं से बने विषय जाल, और चित्त की मलिनता, बिना तप के दूर नहीं होती।

ओम् के पवित्र जप और वेद उपनिषदादि सत्शास्त्रों के नियम पूर्वक अध्ययन तथा आत्म निरीक्षण को स्वाध्याय कहते हैं। निष्काम भावना से कर्म करना और उन्हें ईश्वर के अर्पण करना तथा ईश्वर के आश्रय को दृढ़ता से ग्रहण करना और उसके प्रेम में मग्न रहना ईश्वर प्रणिधान है। इस प्रकार इन तीनों तप आदि को काम में लाने से, क्रिया योग की सिद्धि, होती है।

(११) क्लेश निवृत्ति के साधन

समाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

अर्थ—(वह क्रिया योग) समाधि के उत्पन्न करने और क्लेशों के कम करने के लिए (प्रयुक्त होता है)।

व्याख्यान—क्रिया योग के प्रयोग में लाने के दो उद्देश्य होते हैं:—(१) समाधि को प्राप्त करना, (२) क्लेशों को कम करना। योगाग्नि ही से क्लेशों के बीज जलकर उत्पन्न होने के अयोग्य हो जाते हैं।

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥३॥

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

नोट—इनकी व्याख्या स्वयं दर्शनकार ने आगे के (५—९) सूत्रों में की है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अर्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (अवस्था में रहने वाले) अगले (अस्मिता आदि चार) क्लेशों का क्षेत्र अविद्या है।

व्याख्या—क्लेशों की चार अवस्थायें हैं:—(१) 'प्रसुप्तता'—जिसमें क्लेश सोये से रहते हैं। (२) 'तनुता'—जिस में क्लेश सूक्ष्म रहते हैं। (३) विच्छिन्नता—जिस में क्लेश सजातीय वा विजातीय क्लेशों से दबे रहते हैं। (४) 'उदारता'—जिसमें क्लेश पूर्ण रूप से काम में आ रहे हैं। इन में से जो योगी विदेह प्रकृतिलय हैं (देखो सूत्र १९ प्रथम पाद) उन के क्लेश प्रसुप्त (सोये हुए) रहते और वे उन्हें कुछ भी क्लेशित नहीं कर सकते और जो क्रिया योगी हैं (देखो सूत्र २ इसी पाद का) उनके क्लेश 'तनुता' (सूक्ष्म) अवस्था में रहते हैं। बाक़ी जो दो क्लेशों की 'विच्छिन्नता' और 'उदारता' की अवस्थायें

हैं, इनमें सांसारिक विषय वासनाओं में फँसे हुये नर नारी रहा करते हैं।

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्य शुचि सुखात्म-ख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अर्थ—अनित्य में नित्यता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुख और अनात्मा (जड़) में आत्मापन (चेतना की भावना करना) अविद्या है।

व्याख्या—मिथ्या (विपरीत) ज्ञान का नाम अविद्या है। जो चीज नित्य नहीं है जैसे जगत्, राज्य, सम्पत्ति आदि, उन्हें नित्य समझना, जो वस्तु अपवित्र हैं उन्हें पवित्र मानना, जो विषय भोगादि दुःख हैं उन्हें सुख ठहराना और जड़ को चेतन समझना अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

अर्थ—दृष्टा और दर्शन शक्ति को एक मानना "अस्मिता" (कहलाता है)।

व्याख्या—दृष्टा जीवात्मा है और दर्शन शक्ति (देखने का साधन) बुद्धि और अन्य अन्तःकरण हैं, इनमें अभेद ज्ञान रखना अर्थात् जीवात्मा और अन्तःकरणों को एक ही (अभिन्न) समझने को अस्मिता कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

अर्थ—सुख (अनुभव करने) के पीछे रहने वाली अभिलाषा का नाम राग है।

व्याख्या—जिन वस्तुओं या विषयों से मनुष्य संसार में सुखोपभोग करता है उनके रखने या पुनः काम में लाने की इच्छा उसके भीतर रहा करती है। उसी इच्छा को राग कहते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

अर्थ—दुःख (भोगने) के बाद पीछे रहने वाली घृणा को द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिन वस्तुओं से संसार में मनुष्य को दुःख हुआ करता है उनसे जो भाव भोक्ता में घृणा या क्रोध के रूप से छाया रहता है उसी (भाव) का नाम द्वेष है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वरस (पूर्व जन्म में मरने के दुःख) के साथ बहने वाला, (मूर्ख के) समान विद्वानों पर भी चढ़ा हुआ (क्लेश) अभिनिवेश कहलाता है।

व्याख्या—पिछले जन्म में भोगे, दुःख और सुख से उत्पन्न द्वेष और राग, मनुष्य के अन्तःकरण में वासना के रूप में मौजूद रहते हैं। उन्हीं दुःखों में से मरने का भी एक दुःख है। प्रत्येक प्राणी ने उसका पिछले जन्म में अनुभव किया है, इसीलिये उससे डरता भी रहता है। इसी मृत्युके भयका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रति प्रसव हेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

अर्थ— वे (क्लेश) अपने कारण में (हेयाः) हटाने चाहिये सूक्ष्म होने पर।

व्याख्या—इन पञ्च क्लेशों के हटाने का उपाय, इस सूत्र में बतलाया गया है कि पहले उन्हें क्रिया योग से (देखो सूत्र२ इसी पाद का) हलका करना चाहिये जब वे हलके (सूक्ष्म) हो जावें तब उन्हें उनके (प्रति प्रसव) उत्पत्ति स्थान (कारण) में लौटा देना चाहिये।

ध्यान हेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन क्लेश वृत्तियों को ध्यान से हटाना चाहिये।

व्याख्या—क्लेश की जिन वृत्तियों का अल्प व्यवहार है वे स्थूल वृत्ति और जिनका व्यवहार अधिक है वे सूक्ष्म वृत्ति कहलाती हैं। जिस प्रकार मैले वस्त्र से पहले स्थूल मल छुड़ाया जाता है उसके बाद सूक्ष्म मल, क्योंकि उसके छुड़ाने के लिये विशेष यत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार चित्त से इन क्लेश वृत्तियों को, जो स्थूल हैं उन्हें शुद्ध विचार से और जो सूक्ष्म हैं उन्हें ध्यान (चित्त की एकाग्रता) से दूर करना चाहिये।

(१२) कर्म

क्लेश मूलः कर्माशयोऽदृष्टाऽदृष्ट जन्म वेदनीयः ॥ १२ ॥

अर्थ—क्लेश का मूल, दृष्ट और अदृष्ट जन्मों के कर्मों की वासनायें हैं (ऐसा) जानना चाहिये।

व्याख्या—वर्तमान जन्म को दृष्ट और बीते हुये जन्मों को अदृष्ट कहते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उससे उसी प्रकार की वासना बनती है औ यह वासना मनुष्य के चित्त में, कर्म की रेखा के रूप में रहा करती है। मनुष्य का चित्त जन्म जन्मान्तर की वासनाओं का भण्डार हुआ करता है। मनुष्य जितने भी क्लेश भोगता है उनका कारण वे वासनायें ही हुआ करती हैं। इसी व्यवस्था का संकेत इस सूत्र में किया गया है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

अर्थ—मूल के रहते हुये उनका फल (१) जाति (योनि), (२) आयु और (३) भोग (होते हैं)।

व्याख्या—क्लेश का मूल वासनायें होती हैं, यह बात कही जा चुकी हैं, उसी मूल (कर्म वासना समूह) के चित्त में रहने से उन (कर्मों) का फल जाति, आयु और भोग के रूप में कर्त्ता को मिला करता है। जाति का अभिप्राय मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों से है। आयु की नाप तोल वर्षों पर नहीं किन्तु श्वासों की संख्या से की जाती हैं। मनुष्य अपनी आयु, मिले हुये जन्म में, अपने अच्छे बुरे कर्मों के द्वारा घटा बढ़ा सकता है। सुकर्म से आयु बढ़ती है, दुष्कर्म (नशे, व्यभिचार आदि) से आयु का ह्रास होकर, अकाल ही में, मृत्यु हो जाती है। भोग पर भी मनुष्य के वर्तमान कर्म का प्रभाव पड़ा करता है। कर्म फल से प्राप्त भोग रूप रोग, चिकित्सा शास्त्र के अनुकूल विधान करने से समय से पहले कम या दूर हो जाता है।

ते ह्लाद परिताप फलाः पुण्याऽपुण्य हेतुत्वात् ॥१४॥

अर्थ—वे (जाति, आयु और भोग) पुण्य और पाप रूप कारण से; हर्ष और शोक रूप फल वाले (होते हैं)।

व्याख्या—कर्मों के फल जाति, आयु और भोग के रूप में होते हैं। ये अच्छे बुरे दोनों प्रकार के होने से, दुःख और सुख का कारण, होते हैं। दुःख बुरी वस्तु होने से त्यागने योग्य होना ही चाहिये। परन्तु सुख तो अच्छी वस्तु है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है। तो इस अंश में तो ये (जाति, आयु और भोग रूप) भोग अच्छे ही समझे जाने चाहिये। इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया जाता है।

(१२) ये सब दुःख ही हैं

परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष को तो परिणाम-दुःख, ताप दुःख और संस्कार-दुःख तथा गुण वृत्तियों के विरोध से सब दुःख ही हैं।

व्याख्या—दुःख और सुख का लक्षण इस प्रकार किया जाता है:—

"या भोगेन्द्रियाणां तृप्तेः उपशांतिः तत्सुखम्।" अर्थात् जो भोग करनेवाली इन्द्रियों की तृप्ति की शांति है वही सुख है।

"या लौल्यादनुपशांतिस्तत्दुःखम्।" अर्थात् जो (विषय की इच्छा से इन्द्रियों की) चञ्चलता से अशान्ति होती है वही दुःख

है। ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि इन्द्रियों की विषय भोगसे तृप्ति अथवा उनकी इच्छा की अपूर्त्ति ही, सुख और दुःख, कही जाती है। इन लक्षणों से स्पष्ट है कि संसार में जिसे सुखकहते हैं वह भी इन्द्रियों के भोग ही का नाम है। परन्तु विवेकी पुरुष इन्हें सुख नहीं समझता अपितु दुःख ही मानता है। उसके कारण ये हैं—

परिणाम दुःख—संसार के जितने भी भोग्य (भोजन वस्त्रादि हैं सभी परिणामी हैं। स्वच्छ वस्त्र क्षण क्षण में मैला होता रहता है, युवावस्था घड़ी घड़ी में बुढ़ापे से परिवर्तित होती रहती है जिस पत्नी को रूप, यौवन सम्पन्ना देखकर पति प्रसन्न होता था वह रूप और यौवन पल-पफ में क्षीण हो रहा है। निष्कर्ष यह है कि सांसारिक भोग कोई भी ऐसा नहीं जिसमें परिवर्तन न होता हो। इसीलिये सुख की समस्त सामग्री, परिणाम दुःख मिश्रित होने से, दुःख ही कही जा सकती है।

ताप-दुःख—मनुष्य जब सुखों का उपभोग करता है तब उसके हृदय में उन सुखों के बाधक साधनों से द्वेष रहता है, द्वेष से चित्त सदैव संतापित होता है। यह: संताप स्वयमेव दुःख है। इस लिये सुखों में, दूसरा दुःख जो मौजूद रहा करता है, वह ताप दुःख है।

संस्कार दुःख—मनुष्य जब पुण्य कर्म करता है तो उससे उसे सुख मिलता है। इस सुख से संस्कार (वासना) उत्पन्न होता है। उस संस्कार (वासना) की स्मृति से उसमें राग, राग से प्रवृत्ति

(फिर उसी कर्म के करने की इच्छा), प्रवृत्ति से कर्म उससे फिर वही वासना, राग, प्रवृत्ति और कर्म। इस संसार चक्र से मनुष्य का छूटना, सुख की इच्छा छोड़े विना, सम्भव नहीं इसलिये इस चक्र की फँसावट, ज्ञानी पुरुषों के लिये, बन्धन रूपी दुःख ही है।

गुण प्रवृत्ति—गुण "सत्", "रज्", "तम" तीन हैं और ये तीनों परस्पर विरोधी हैं। एक की प्रवलता में शेष दो सदैव विरोध करते रहते हैं। इस प्रकार, जव तक गुणों की प्रवृत्ति मनुष्य के हृदय में वाकी रहती है, यह देवासुर संग्राम मनुष्य के भीतर जारी ही रहता है। योगी जव तक निस्त्रैगुण्य नहीं होता इस संग्राम रूपी दुःख से वच नहीं सकता। अतः अव यह वात साफ़ हो गई कि विवेकी- को संसारिक सुख भी दुःख ही है। ये दुःख, काल की दृष्टि से, तीन अवस्थाओं में रहा करते हैं:— (१) भूत दुःख, (२) वर्तमान दुःख (३) अनागत (भावी) दुःख। इनसे वचने के लिये मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है:—

(१४) दुःख जो दूर करना चाहिये

हेयं दुखःमनागतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—(जो) दुःख अनागत (अर्थात् अभी आया नहीं है परन्तु आ सकता) है (वही) हटाने के योग्य है।

व्याख्या—जो दुःख मिल चुका है उसके हटाने का विचार व्यर्थ है, जो दुःख वर्तमान काल में मिल रहा है, वह भी, भूत

काल में किये हुये कर्मों का फल होने से, अनिवार्य हैं। भावी दुःख हमारे वर्तमान काल के कर्मों के फल रूप होते हैं इस लिये वर्तमान काल के कर्मों को ठीक करके वह भावी (अनागत) दुःख हटाये जा सकते हैं। उसी के हटाने का यत्न करना चाहिये।

(१५) दुःख के कारण

द्रष्टा दृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः ॥ १७ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का हेतु (है)।

व्याख्या—द्रष्टा जीवात्मा है और दृश्य प्रकृति से उत्पन्न हुये शरीरादि कार्य हैं। इनके संयोग ही से (हेय) संसार के दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि द्रष्टा दृश्य, और इनके संयोग की निवृत्ति रूप प्रतिकार (चिकित्सा) समझ लिया जावे।

प्रकाश क्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति शील, पञ्चभूत और इन्द्रिय स्वरूप, भोग और मोक्ष प्रयोजन वाला (पदार्थ) दृश्य (कहलाता है

व्याख्या—प्रकृति के ३ गुणों में सत्व गुण का शील (स्वभाव) प्रकाश, रजोगुण की क्रिया और तमोगुण की स्थिति (अक्रियत्व) है। इनमें से रज, और, तम भोगार्थ और सत्व मोक्षार्थ है। इन तीन गुणों के कार्य, संसार के सभी पदार्थ, दृश्य कहलाते हैं।

यद्यपि सभी कार्य इन गुणों के आधीन हैं और ये गुण बुद्धि में रहते हैं तथापि फलरूप मोक्ष और भोग का भोक्ता जीवात्मा ही है। इसका कारण यह है कि यदि प्रकृति के इन ३ गुणों का सम्पर्क जीवात्मा से न रहे तो फिर ये कुछ नहीं कर सकते क्योंकि उनमें जड़ता है। उनमें जो कुछ भी कर्तृत्व है उसका कारण वह चेतना का प्रकाश है जो जीवात्मा के सम्पर्क से उनमें आ आया करता है। इसलिये असली कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व का जीवात्मा ही है। मन, बुद्धि आदि सेना रूप उसके साधन ही कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार सेना के कर्तृत्व का श्रेय राजा ही को मिला करता है, इसी प्रकार जीवात्मा, जो इन समस्त अन्तः और बाहिः करणों का राजा रूप ही है, कर्ता और भोक्ता कहा जाता है।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

अर्थ—विशेष, अविशेष, लिंगमात्रा, अलिंग (प्रकृति के) गुणों की ४ अवस्थायें हैं।

व्याख्या-(१) विशेष=५ स्थूल भूत+१० ज्ञान व कर्मेन्द्रिय+१ मन कुल १६।

(२) अविशेष=५ तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)+१ अहङ्कार कुल ६।

(३) लिंगमात्रा=१ महतत्त्व।

(४) अलिंग=मूल प्रकृति।

योग २४।

यही २४ पदार्थ सांख्य को भी अभिमत हैं। यहाँ तक दृश्य का स्वरूप वर्णन किया गया है। अब द्रष्टा का लक्षण करते हैं:—

दृष्टा दृशि मात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥ २० ॥

अर्थ दृष्टा दृशि (ज्ञान) मात्र है और शुद्ध भी, (और) प्रत्ययों के अनुसार देखने (जानने) वाला है।

व्याख्या—आत्मा को गुणी और उसके ज्ञान को गुण कह कर दोनों में संवाय सम्बन्ध कहना भी दर्शनकार को इष्ट नहीं है। किन्तु ज्ञान मात्र कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा ज्ञान स्वरूप है। स्वरूप, सत्ता (ज्ञान=वस्तुतत्त्व=Thing in itself) को कहते हैं और जो उस सत्ता में न्याय, दया आदि के सदृश होते हैं, वे गुण कहलाते हैं। सूत्र का भाव यह है कि ज्ञान दृष्टा (आत्मा) का गुण नहीं किन्तु उसकी सत्ता व स्वरूप है, प्रत्यय का तात्पर्य्य बुद्धि को हुई प्रतीतियों से है। प्रत्यय के अनुसार देखने (जानने) का मतलब यह है कि आत्मा (जीव) शुद्ध होने से अपने सांनिध्य मात्र से उन प्रतितियों (प्रत्ययों) को, जो बुद्धि को होती रहती है, साथ ही साथ देखने (जानने) वाला होता है।

तदर्थ एव च दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

अर्थ—दृश्य (प्रकृति) का आत्मा=स्वरूप केवल दृष्टा के लिये है।

व्याख्या—जगत् में प्रकृति विकृत होकर जो अनेक वस्तुयें उत्पन्न किया करती है वे सभी जीवात्मा के लिये होती हैं। प्रकृति के अपने लिए कुछ नहीं होता। यदि यह कहा जावे कि जीवात्मा जब मुक्त हो जाता है तब उसके लिये यह कुछ भी नहीं होता इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है:—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

अर्थ—कृतार्थ के प्रति नष्ट भी अन्यों के प्रति सामान्यतया अनष्ट है।

व्याख्या— जो जीव कृतार्थ (मुक्त) हो गये हैं, उन के लिए यद्यपि प्राकृतिक भोग नष्ट हैं परन्तु अन्यों के लिये तो जो अभी मुक्त नहीं हुए, ये सभी भोग उपयोगी हैं। संसार में मुक्त और बद्ध दोनों प्रकार के जीव सदैव रहा करते हैं इसलिए प्रकृति की सर्वथा अनुपयोगिता कभी नहीं होती।

स्व स्वामी शक्त्योः स्वरूपोपलब्धि-हेतुः संयोगः ॥२३॥

अर्थ—स्व (प्रकृति) और स्वामी (जीव) की शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु संयोग है।

व्याख्या—स्व=प्रकृतिरूपी मिलकीयत=भोग्य,

स्वामी=जीवरूपी मालिक=भोक्ता

प्रकृति जड़ है और पुरुष (जीव) चेतन होने से जड़ प्रकृति पर अपना अधिकार रखता है और इसीलिए सूत्र में उसे मालिक कहा गया है।

द्रष्टा (जीव) और (दृश्य) प्रकृति के संयोग से जो दृश्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उसी का नाम भोग है। इस भोग की प्राप्ति संयोग से होती है, जिसका सूत्र में उल्लेख है। इस संयोग से भोग्य (प्रकृति) और भोक्ता (पुरुष) की शक्तियों का स्वरूप प्रकट हो जाता है। प्रकृति की शक्ति के प्रकट होने का भाव

यह है कि सांसारिक पदार्थ अधिक से अधिक भोग्य होने के योग्य हो जावें और पुरुष की शक्ति के प्रकट होने का तात्पर्य यह है कि वह अधिक से अधिक भोक्ता बनने की योग्यता वाला हो जावे। जब दोनों की शक्तियाँ इस प्रकार प्रादुर्भूत होकर संयुक्त होती हैं तब इसी संयोग से बन्धन की उत्पत्ति होती है। जब पुरुष स्वयमेव प्रकृति से मेल कर के संयोग और संयोग से बन्धन पैदा किया करता है तो वह आख़िर यह करता क्यों है?

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

अर्थ—उस (संयोग) का हेतु अविद्या है।

व्याख्या—बन्धन के कारण संयोग को, पुरुष (भोक्ता) अविद्या अर्थात् अपने मिथ्या ज्ञान से पैदा करता है।

(१६) चिकित्सा

तदऽभावात्संयोगाऽभावो हानंतद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

अर्थ—उस (अविद्या) के अभाव से संयोग का अभाव (होता है और वही) हान दृष्टा (पुरुष) का मोक्ष है।

व्याख्या—उस अविद्या से मनुष्य किस प्रकार बचे? सूत्र में उस की चिकित्सा (हान) यह बतलाई गई है कि उस को दूर करना चाहिए। उसके अभाव होने से, उस से उत्पन्न सयोग का अभाव होगा और उसी संयोग के अभाव का नाम मोक्ष है।

(१७) चिकित्सा के साधन

विवेक ख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

अर्थ—स्थिर विवेक ख्याति हान का उपाय है।

व्याख्या—पहले सूत्र में हान (इलाज) यह बतलाया गया है कि अविद्या की निवृत्ति की जावे। अब बतलाते हैं कि उस चिकित्सा के लिए आप को क्रिया करना चाहिये।

विवेक ख्याति उस विवेक (ज्ञान) को कहते हैं जो बुद्धि, चित्त आदि दृश्य पदार्थों के, आत्मा से भिन्न होने से, सम्बन्धित है। वह उपाय यह है कि मनुष्य के भीतर, दृश्य पदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान, स्थिर रीति से रहने लगे। जब मिथ्या ज्ञान इस विवेक ख्याति के निरन्तर अभ्यास से, दग्ध-बीज हो जाता है तब तमोगुण और रजोगुण के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं और उस समय सत्वगुण के प्रकाश में स्थित योगी का ज्ञान प्रवाह शुद्ध और निर्मल हो जाता है। मिथ्या ज्ञान के दूर होने से विवेक ख्याति दृढ़ होती है और विवेक ख्याति के क्रमशः दृढ़ होते रहने से मिथ्या ज्ञान (अविद्या) दूर होने लगता है। यही उपाय है जिसका अभ्यास होना चाहिये।

तस्य सप्तधा प्रान्त भूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

अर्थ—उस (विवेक ख्याति वाले) की सात प्रकार की प्रान्त भूमि वाली प्रज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—प्रान्त भूमि, "प्रान्त" कहते हैं दूसरे किनारे को– "भूमि" का तात्पर्य योग भूमि से है। प्रान्त भूमि का अभिप्राय यह है कि योगी उस अवस्था को पहुँच जावे जिसमें उसकी प्रज्ञा

परले किनारे तक पहुँचने वाली हो जावे। वे ७ प्रकार की प्रज्ञा (बुद्धि) ये हैं:—

प्रज्ञा विमुक्ति

(१) ज्ञेय शून्यावस्था। अर्थात् जो जानना था जान लिया अब कुछ ज्ञातव्य बाकी न रहने से जिज्ञासा का अन्त हो गया।

(२) हेय शून्यावस्था। अर्थात् जो कुछ छोड़ने योग्य था अविद्या आदि ५ क्लेशों को छोड़ दिया अब कुछ छोड़ने योग्य (हेय) बाकी नहीं रहा। इसलिए छोड़ने की इच्छा (जिज्ञासा) का भी अन्त हो गया।

(३) प्राप्य-प्राप्त-अवस्था। अर्थात् प्राप्य (ज्ञान) जो कुछ था पा लिया अब कुछ प्राप्तव्य बाक़ी न रहने से प्रेप्सा=प्राप्त करने की इच्छा का भी अन्त हो गया।

(४) चिकीर्षा शून्यावस्था। अर्थात् ज्ञान का उपाय कर चुका अब कुछ कर्तव्य शेष न रहने से करने की इच्छा (चिकीर्षा) का भी अन्त हो गया।

इन चारों का एक नाम प्रज्ञा की विमुक्ति है।

चित्त विमुक्ति

(५) बुद्धि सत्व कृतार्थता। अर्थात् बुद्धि आदि (अन्तः-करणों) का कार्य समाप्त हो गया।

(६) गुणलीनता। अर्थात् प्रकृति के, अन्तःकरण रूप में परिणत हुये गुण, अपने कारण (प्रकृति) में लीन हो गये।

(७) आत्म स्थिति। प्रकृति के तीनों गुणों से बाहर होकर आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो गई। अब यह जीव) आत्मा, परमात्मा को साक्षात् करेगा। अब कुछ बाक़ी नहीं रहा।

इन तीनों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं।

(१८) अष्टांग योग

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः ॥२८॥

अर्थ—योग के (आठ) अंङ्गों के अनुष्ठान से, अशुद्धि के क्षय होने पर, विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है।

व्याख्या—मनुष्य के हृदय में शुद्धि और अशुद्धि दोनों का समावेश होता है। अशुद्धि रहने से तम और रज गुणों से हृदय भरपूर रहता है परन्तु शुद्ध हो जाने पर केवल सत्वगुण का प्रकाश उनमें रहने लगता है। इसलिये अशुद्धि के क्षय के लिये योग के यमनियमादि ८ अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिये। इन नियमों के अनुष्ठान से अशुद्धि दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होते होते वह अन्तिम ज्ञान जिसे विवेक ख्याति कहते हैं योगी के हृदय में आकर हृदय को प्रकाशित कर देता है।

यम नियमाऽऽसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

अर्थ—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि; ये (योग के) आठ अङ्ग हैं।

नोट—इनमें से प्रत्येक अङ्ग की व्याख्या आगे के सूत्रों में है।

(१६) यम

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥३०॥

अर्थ—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह, ये ५ यम कहलाते हैं।

व्याख्या—विषयों से, मन सहित इन्द्रियों के उपरत करने का नाम यम है। (१) मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न देना **अहिंसा**, (२) मन, वाणी और कर्म से वही सोचना, कहना और करना जो अन्तरात्मा के अनुकूल हो **सत्य**, (३) पराये धन के लेने का मन, वचन और कर्म से यत्न न करना= **अस्तेय**, (४) इन्द्रिय संयम करते हुये वीर्य रक्षा करना **ब्रह्मचर्य** और (५) भोग साधनों के संग्रह के लोभ से मुक्त होना **अपरिग्रह** कहलाता है।

जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

अर्थ—(वे यम) जाति, देश, काल और समय से न कटने वाले सार्वभौम (आलमगीर) महाव्रत हैं।

व्याख्या—जाति देशादि से न कटने का अभिप्राय यह है कि इनके द्वारा ये अहिंसा आदि महाव्रत संकुचित न किये जावें।

जाति के द्वारा सङ्कोच—गो और ब्राह्मण को न मारेंगे अन्यों को मारें तो कुछ हर्ज नहीं।

देश के द्वारा सङ्कोच—ब्रज में रह कर वहाँ शिकार न करूँगा। अन्य स्थलों के लिए यह पाबन्दी नहीं है।

काल के द्वारा सङ्कोच—एकादशी को मांस न खाऊंगा। अन्य तिथियों में खाना निषिद्ध नहीं है।

समय के द्वारा सङ्कोच—अपने बनाये नियम और की हुई अपनी प्रतिज्ञा के विपरीति हिंसा न करूँगा। कल्पना करो एक आदमी ने प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि अपने लिए किसी प्राणी का वध न करूँगा परन्तु अन्यों के लिए वध करने में दोष नहीं है।

इस प्रकार जाति आदि के द्वारा सङ्कोच का फल यह होता है कि अहिंसा आदि सर्व देश और सर्व काल में पालनीय नहीं रहते और तब इनको महाव्रत भी नहीं कह सकते।

(२०) नियम

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

अर्थ—(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्रणिधान; ये (पाँच) नियम हैं।

व्याख्या—(१) बाहर और भीतर शरीर और मन आदि को पवित्र रखना शौच, (२) तत्परता से किये हुये कर्म का

जो फल मिले उस से अधिक का लोभ न करना **सन्तोष,** (३) गरमी, सर्दी आदि द्वन्द्वों का सहन करते हुये, समय विभागानुसार सभी कामों का करना **तप,** (४) ओम् का जप और वेदोपनिषदादि सद्ग्रन्थों का अध्ययन **स्वाध्याय** और (५) निष्कामभावना से कर्म करते हुए उन्हें ईश्वरार्पण करना ईश्वर **प्रणिधान** कहलाता है।

(२१) यम और नियम के फल

वितर्कबाधने प्रतिपक्ष भावनम् ॥३३॥

अर्थ—वितर्क के हटाने में प्रतिपक्ष की भावना (करनी चाहिये)।

व्याख्या—वितर्क=विरोधी तर्क। अहिंसा आदि यम और शौचादि नियमों में जब मनुष्य के भीतर इस के विरोधी विचार उत्पन्न हों तो उन्हें उन (विरोधी विचारों) के विरुद्ध भावना कर के हटाना चाहिये। विरुद्ध भावना का भाव यह है कि मनुष्य अपने भीतर ग्लानि पैदा करे और अपने को धिक्कारे कि मैंने निश्चय किया था कि अहिंसा आदि का पालन करूँगा अब मैं स्वयं उन्हें तोड़ रहा हूँ। अपनी प्रतिज्ञा का भङ्ग कर के मैं अपने को पातकी बना रहा हूं।

इत्यादि—वितर्क के उदाहरण:—

[१] "क" ने मुझे गाली दी है इसलिये मैं उसे अवश्य मारूँगा।

(२) 'ख' ने मना करने पर भी 'ग' पर नालिश करदी है इसलिये मैं झूंठी गवाही देकर उसका अभियोग खारिज करा दूंगा।

(३) 'क' ने मेरा धन चुरा लिया है इसलिये मैं भी उसकी चोरी करके उसे ठीक करूंगा।

(४) इस रूपवती का तो सतीत्व नष्ट ही करूंगा।

(५) जितना धन 'क' के पास है उतना धन तो कहीं न कहीं से मेरे पास आही जाना चाहिये।

(६) आज तो सरदी अधिक है इसलिये न नहाऊंगा।

(७) हम तो सन्तोषी जीव हैं इसलिये पुरुषार्थ की हमको क्या जरूरत है।

(८) आज कुछ अच्छा पदार्थ पाकशाला में बना है इसलिये समय से कुछ पहले ही भोजन करना अच्छा है।

(६) जी नहीं चाहता कि इस समय कुछ पढ़ें इसलिये आज स्वाध्याय न सही।

(१०) सब कर्म ईश्वरार्पण करना व्यर्थ है। ईश्वर को भला किसने देखा है। इत्यादि।

वितर्का हिंसादयः कृत कारितानुमोदिता, लोभक्रोध मोहपूर्वका मृदु-मध्याऽधिमात्रा दुखाऽज्ञानाऽनन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

अर्थ—हिंसादि वितर्क (१) कृत, (२) कारित,(३) अनुमोदित। (१) लोभ, (२) क्रोध, (३) मोह पूर्वक। (१) मृदु, (२) मध्य, (३) अधिमात्र भेद वाले हैं, जिनके फल दुःख और अज्ञान अनन्त हैं। इसलिये (इनका) प्रतिपक्ष (विरोध) करना चाहिये।

व्याख्या—यम और नियम में वर्णित अहिंसादि १० बातों के विरुद्ध, हिंसा, असत्य, स्तेयादि १० वितर्क हैं। कृत (जो स्वयं किया जावे), कारित, (जो दूसरों से कराया जावे) और अनुमोदित (अन्यों के द्वारा की हुई हिंसा का समर्थन)। भेद से प्रत्येक वितर्क (हिंसा आदि) तीन तीन प्रकार के हैं।

अव इन तीन २ भेदों के, लोभ, क्रोध और मोह भेदों से, फिर तीन २ भेद हो जाते हैं—जैसे एक हिंसा वितर्क को लें तो इसके ३ भेद कृत, कारित और,अनुमोदित होते हैं, अव ये तीन भेद लोभ, क्रोध और मोह के संपर्क से फिर तीन २ प्रकार के होकर नौ (६) हो गये। अव ये ६ भेद फिर मृदु (हलका), मध्य (मृदु से अधिक परन्तु अधिमात्रा से कम) और अधिमात्रा (सबसे अधिक) भेद से तीन २ प्रकार के होकर २७ हो गये। इसी प्रकार असत्य और अस्तेय आदि वितर्कों के भेद से वहुत भेद वितर्कों के होकर अनन्त अज्ञान और दुःख का कारण हो जाते हैं। इसी हेतु से सूत्र में आदेश किया गया है कि इनका प्रतिपक्ष (विरोध) करना चाहिये जिससे इन वितर्कों से छुटकारा पाकर अभ्यासी अहिंसा आदि में प्रतिष्ठित होकर उनसे लाभ उठा सके।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ॥३५॥

अर्थ—अहिंसा में (निश्चलता पूर्वक) स्थित होने पर उस (अहिंसक योगी) के समीप (सभी प्राणियों का) वैर छूट जाता है ।

व्याख्या—छोटे बालक सर्वथा निर्दोष होते हैं । उनकी भीतरी अहिंसा आदि (निर्दोषता) की झलक, उन (बच्चों) की भोली आँखों, उनके भोले चेहरे की आकृति आदि से देखने वालों को, आ जाया करती है । कई बार देखा और सुना गया है कि इसी प्रकार के बालकों को भेड़िये उठा ले गये परन्तु उनकी अहिंसा पूर्ण आँखों को देखते ही भेड़िये के भीतर से हिंसा वृत्ति जाती रही और ऐसे बच्चों को मरने की जगह, उन (भेड़ियों) ने रक्षा की, पाला और पाल पोस कर बड़ा किया । ऐसे ही भेड़िये के द्वारा पाला हुआ एक १३-१४ वर्ष का बालक, इटावा के कलेक्टर द्वारा, आर्य्य समाज बरेली के अनाथालय में लाया गया था । उसे मैंने भी देखा था । उस में अधिकतर बातें भेड़ियों की, चबड़-चबड़ कर पानी पीना आदि, उस समय भी बाक़ी थीं । मनुष्य का हृदय भी अहिंसा के अभ्यास से ऐसा ही निर्दोष हो जाता है और तब उसके साथ भी कोई वैर नहीं करता ।

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम् ॥३६॥

अर्थ—सत्य में स्थित होने पर क्रिया और फल का आश्रय हो जाता है ।

व्याख्या—जब अभ्यासी सत्य के आचरण से मन, वाणी और क्रिया तीनों प्रकार से सत्य में स्थित हो जाया करता है तब

क्रिया और उस क्रिया के फल दोनों का आश्रय स्थान उसकी वाणी हो जाती है अर्थात् जो वह कह देता है वैसा ही हो जाता है। व्यास ने लिखा है कि ऐसे सत्यवादी की वाणी अमोघ (सफल) हो जाया करती है। वह यदि किसी (पापी) को कह देवे कि धार्मिक होजा, तो अवश्य वह पाप छोड़ कर धार्मिक हो जावेगा।

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

अर्थ—चोरी न करने (की मर्यादा) में स्थित हो जाने पर सब रत्न प्राप्त होने लगते हैं।

व्याख्या—मनुष्य की जब नियत ठीक हो जाती है और मन, वाणी और क्रिया, किसी प्रकार से भी वह दूसरे के धन में लोभ नहीं करता तो ऐसे निर्लोभी पुरुष को किसी प्रकार की भी कमी नहीं रहती और सभी वस्तुयें उसे स्वयमेव प्राप्त होने लगती हैं।

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर वीर्य का लाभ होता है।

व्याख्या—ब्रह्मचर्य के नियमानुकूल आचरण करने से अतिशय वीर्य की प्राप्ति होती है और ऐसा ब्रह्मचारी सब कुछ कर सकने में समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

अर्थ—अपरिग्रह में स्थिर होने से जन्म क्यों कर हुआ इस का बोध हो जाता है।

व्याख्या—जन्म जन्मान्तर के संस्कार, वासना और स्मृति का भण्डार चित्त है। मरने पर चित्त का विगाड़ कुछ नहीं होता। ज्यों का त्यों बना रहता है। शुद्ध संस्कार वाले बालक, जब तक वे सांसारिक छल छिद्र से रहित रहते हैं, अपने पहले जन्म का हाल बतला दिया करते हैं। पीछे सांसारिक लोभ और मोह का आवरण पड़ जाने से उसे भूल जाया करते हैं। चित्त का अध्ययन करने के लिये उस आवरण का हटा देना आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य सम्पन्न होने के बाद जब अभ्यासी लोभ को भी त्याग दिया करता है तब उसका हृदय शुद्ध और चित्त आवरण रहित हो जाता है और फिर उसको अपने पहले जन्म का हाल जान लेने में कोई कठिनता नहीं होती।

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

अर्थ—शौच से अपने अङ्ग से घृणा (होती है) और अन्यों से संसर्ग छूट जाता है।

व्याख्या—योगी शौच के अभ्यास से जब हृदय को शुद्ध और पवित्र कर लेता है तब उसे मल मूत्रादि, अनेक अपवित्र वस्तुओं के भण्डार अपने शरीर से भी घृणा होने लगती है। जब वह इस प्रकार अपने ही शरीर को निन्दित समझने लगता है तब अन्यों के, ऐसे ही निन्दित शरीर से किस प्रकार संसर्ग रख सकता है।

सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयाऽऽत्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

अर्थ—सत्व (बुद्धि) की शुद्धि, मन का अच्छा-पन, (चित्त की) एकाग्रता, इन्द्रिय का जीतना और आत्मा के दर्शन (साक्षात्कार करने) की योग्यता भी (शौच से होती है)।

व्याख्या—बाह्य और अभ्यन्तर शुद्धि की स्थिरता से, योगी की बुद्धि निर्मल हो जाती है। बुद्धि की निर्मलता से मन भी शुद्ध हो जाता है और मन की शुद्धता चित्त की चञ्चलता को दूर कर देती है जिससे वह एकाग्र होने लगता है। मन की शुद्धि और चित्त की एकाग्रता से इन्द्रियें उसके वश में हो जाती हैं और इन सब से उसके भीतर आत्म-साक्षात्कार करने की योग्यता, दूसरे शब्दों में, आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत करने की योग्यता आ जाती है।

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः ॥ ४२ ॥

अर्थ—सन्तोष से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनुत्तम शब्द के दो अर्थ हैं। एक जो उत्तम न हो, दूसरा जिससे बढ़ कर कोई उत्तम न हो। यहां यही दूसरा अर्थ अभिप्रेत है। सन्तोष से मनुष्य तृष्णा रहित हो जाता है और तृष्णा रहित होने से जो सुख प्राप्त होता है उसकी उपमा किसी भी सुख से नहीं दी जा सकती। एक जगह कहा है:—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम्।
तृष्णा क्षय सुखस्यैतेनार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥

अर्थात् संसार में जो काम सुख है और जो अन्य महान् दिव्य सुख है, वे तृष्णाक्षय सुख की सोलहवीं कला (अंश= भाग) के समान भी नहीं।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

अर्थ—तप से शरीर और इन्द्रिय की सिद्धि और अशुद्धि का क्षय होता है।

व्याख्या—तप के अनुष्ठान से अशुद्धि (मल) क्षीण हो जाती है और अशुद्धि के क्षीण हो जाने से काय (देह) सिद्धि (अणिमादि। सूत्र ४४ तथा ४५ विभूतिपाद) और इन्द्रिय सिद्धि (दूर श्रवण, दिव्यदर्शनादि। सूत्र ४० आदि विभूति पाद) हो जाती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्वाध्याय से इष्ट (मन चाहे) देवता का मेल होता है।

व्याख्या—देवता वेद मन्त्रों के विषय (Subject) को कहते हैं। जब वेदादि सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाता है तो उससे मन्त्रों में वर्णित अनेक विद्याओं का ज्ञान हो जाता है।

समाधि-सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

व्याख्या—जब योगी जो कुछ भी करता है, ईश्वरार्पण करके ही करता है और अपना-पन कुछ नहीं रखता तब उसे संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है।

(२२) आसन

स्थिर सुखमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिसमें स्थिर सुख हो वह आसन (कहलाता है)।

व्याख्या—आसन के अनेक भेद हैं और उनकी अनेक उपयोगितायें भी हैं परन्तु राज योग में आसन का तात्पर्य यह है कि योगी पद्मासन आदिकों में से किसी ऐसे आसन से बैठे जिससे उसे स्थिर रीति से सुख मालूम हो।

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्तों के सामुख्य में आने से आसन की सिद्धि होती है।

व्याख्या—आसन की सिद्धि के लिये दो बातों की जरूरत है:-

(१) प्रयत्न की शिथिलता—आसन करने वाले को क्रिया शून्य सा बन जाना चाहिये। जिससे शरीर किसी प्रकार से भी हिल जुल न सके। (२) अनन्त का अभिप्राय अनन्त पशु-पक्षियों से है जिनके सामुख्य में आने से अनेक प्रकार के आसन उनसे सीखे जाते हैं जैसे मयूरासन, कुक्कुटासन, उष्ट्रासन इत्यादि। दूसरा भाव अनन्त का विभुत्व से है जैसे कोई सर्व देशी (सर्वव्यापक) वस्तु हिल जुल नहीं सकती इसी प्रकार अनन्त (ईश्वर आकाशादि) को लक्ष्य में रखते हुए उसी प्रकार का गति शून्य अपने को बनाना चाहिये।

ततो द्वन्द्वाऽनभिघातः ॥ ४८ ॥

अर्थ—उस (आसन की सिद्धि) से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती।

व्याख्या—द्वन्द्व=गरमी सरदी आदि के क्लेशों से, आसन की सिद्धि द्वारा, योगी बच जाया करता है।

(२३) प्राणायाम

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

अर्थ—उस (आसन) के स्थिर होजाने पर श्वास और प्रश्वास की गति रोकना प्राणायाम है।

व्याख्या—श्वास=बाहर की वायु का भीतर ले जाना।

प्रश्वास=भीतर की वायु का बाहर निकालना। इनकी गति रोक देना अर्थात् न श्वास भीतर लें और न बाहर निकालें, प्राणायाम कहलाता है। प्राण वायु का नाम है, आयाम कहते हैं फैलाने, विस्तार देने को। प्राणायाम का भाव यह है कि दोनों प्रकार के श्वासों का विस्तार देना अर्थात् उन्हें देर देर में भीतर लेना और बाहर निकालना।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

अर्थ—(१) बाह्य (२) आभ्यन्तर (३) स्तम्भवृत्ति (३ प्रकार

का प्राणायाम) देश काल और संख्या से देखा हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

व्याख्या—(१) वाह्य-श्वास का बाहर निकाल देना, इसी को रेचक कहते हैं, (२) आभ्यन्तर=पूरक, श्वास का भीतर ले जाना, स्तम्भवृत्ति=कुम्भक, बाहर या भीतर न ले जाकर प्राण को जहाँ का तहाँ रुका रहने देना। इन तीनों में से प्रत्येक प्राणायाम तीन तीन प्रकार का होता है। (१) देशपरिदृष्ट=समीप या दूर के वायु का खींचना, (२) काल परिदृष्ट=समय की विशेष मात्रा में श्वास का लेना या निकालना (३) संख्या परिदृष्ट=संख्या विशेष में श्वास का लेना या निकालना। ये सभी प्राणायाम दीर्घ (विस्तृत) भी होते हैं और सूक्ष्म भी।

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

अर्थ—बाहर और भीतर (दोनों देशों में) आक्षेप करने (फेंकने) वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रुका रहने देना वाह्य कुम्भक और श्वास को भीतर ले जाकर भीतर ही रुका रहने देना आभ्यन्तर कुम्भक कहा जाता है। इस चौथे प्राणायाम का तीसरे से अन्तर यह है कि तीसरा बिना रेचक या पूरक के श्वास का जहाँ का तहां रोक देना है परन्तु चौथे में पूरक या रेचक के बाद श्वास रोका जाता है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—उस (प्राणायाम के सिद्ध होने) से प्रकाश पर पड़ने वाला परदा हट जाता है।

व्याख्या—मनुष्य के भीतर जो सत्व गुण है उस पर तमस् और रजस् का परदा पड़कर उसे ढांप दिया करता है जिससे मनुष्य में अनेक दोष आ जाते हैं परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से रजस् और तमस् गुणों का ह्रास होकर सत्व की वृद्धि होती है और मनुष्य उन दोषों से मुक्त हो जाता है। जैसा मनुस्मृति में भी कहा है:—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

॥ मनु० ६। ७१॥

अर्थात्—जैसे अग्नि में, धोंके हुये (स्वर्णादि) धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं इसी प्रकार प्राण के रोकने (प्राणायाम) से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

अर्थ—धारणा (के अभ्यास कर सकने) में मन की योग्ता हो जाती है।

व्याख्या—धारणा चित्त के एकाग्र करने को कहते हैं। इस धारणा की योग्यता प्राणायाम के सिद्ध होने से, हो जाती है। इस सूत्र में आये धारणा शब्द में प्रत्याहार को सम्मिलित समझना चाहिये क्योंकि प्रत्याहार के अभ्यास के बाद ही धारण के अभ्यास

शुरू किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्याहार और धारणा दोनों की योग्यता प्राणायाम से हो जाती है।

(२४) प्रत्याहार

स्वविषयासंप्रयोगचित्तस्य स्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों का अपने विषय से मेल न होना और चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा करने लगना प्रत्याहार (कहाता) है।

व्याख्या—प्रत्याहार कहते हैं पीछे हटने को। यहाँ इन्द्रियों का अपने विषय से पीछे हटना अभिप्रेत है। जब चित्त का इन्द्रियों से मेल होता है तब इन्द्रियाँ अपने २ विषय की ओर चलती हैं। यदि मेल न हो तो इन्द्रियाँ भी अपने २ विषय से मेल न रक्खेंगी। सूत्र का भाव यह है कि जब चित्त इन्द्रियों से मेल न रखकर अपने स्वरूप में स्थित हो तब उसकी निरुद्धावस्था होती है। बस चित्त की इसी निरुद्धावस्था का अनुकरण करके जब इन्द्रियाँ भी अपने २ विषय से मेल न रखकर निरुद्ध हो जावें तो इस अवस्था को प्रत्याहार कहेंगे।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—इस (प्रत्याहार की सिद्धि) से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं।

व्याख्या—चित्त की एकाग्रता इन्द्रियों के विषयों में न होकर जब अन्य ओर हो जाती है तब न चित्त विषयों की ओर जाता है और न इन्द्रियाँ। इस प्रकार चित्त का इन्द्रियों सहित विषयों की ओर न जाना जितेन्द्रियता कही जाती है। यही जितेन्द्रियता प्रत्याहार से प्राप्त हो जाती है।

इति द्वितीयः साधनपादः।

द्वितीय साधनपाद समाप्त हुआ।

विभूति पाद

(२५) धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

अर्थ—चित्त का (किसी) देश में बाँधना धारणा (कह-लाता है)।

व्याख्या—अपने शरीर के नाभि-चक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग या ब्रह्म-रन्ध्र (मूर्धा) अथवा किसी बाह्य-विषय में चित्त का, वृत्तियों के माध्यम से, ठहराना धारणा कहाता है।

(२६) ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

अर्थ—उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा बना रहना ध्यान कहा जाता है।

व्याख्या—देश विशेष (नाभि-चक्रादि) में चित्त का ठहरना धारणा कहा गया है। यह चित्त का ठहराव जब स्थिर हो जावे और ध्येय का ज्ञान एक जैसा बना रहे और दूसरा किसी प्रकार का ज्ञान चित्त में न आवे तो इस अवस्था का नाम ध्यान कहा जायगा।

(२७) समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

अर्थ—उसी (ध्यान) में जब अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जावे और (ध्याता) अपने रूप से शून्य सा हो जावे तो उसे समाधि (कहेंगे) ।

व्याख्या—ध्यान और समाधि में अन्तर यह है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन तीनों का ज्ञान योगी को रहता है; परन्तु समाधि में अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जाता है। ध्याता और ध्यान न रहते हों यह नहीं होता। ये रहते जरूर हैं परन्तु इनका स्वरूप शून्य सा हो जाता है। ध्याता पर ध्येय के स्वभाव का पूर्ण आवेश हो जाता है। इस आवेश का फल यह होता है कि ध्याता को अपनी सुध बुध नहीं रहती और वह केवल ध्येय के प्रकाश ही में निमग्न और तल्लीन सा हो जाता है।

(२८) वृत्तियों के निरुद्ध होने से पहली बातें

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

अर्थ—तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) एकत्रित होकर संयम (कहलाते हैं) ।

व्याख्या—इन तीनों को किसी एक लक्ष्य पर लगाना, योग दर्शन की परिभाषा में, संयम करना कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस (संयम) के जय (सिद्ध होने) होने से प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) हो जाता है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास और इन तीनों के किसी एक ध्येय पर लगा सकने की योग्यता प्राप्त हो जाने से योगी की बुद्धि निर्मल हो जाती है और उस (प्रज्ञा के नैर्मल्य) से योगी ऐसे काम ले सकता है जो साधारण बुद्धि वालों को आश्चर्य में डालने वाले होते हैं।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

अर्थ—उस (संयम) का भूमियों में विनियोग (होता है)।

व्याख्या—संयम करने की योग्यता, अभ्यास से, बढ़ती है। अभ्यास बार-बार एक ही काम के करने से पूरा होता है। पहले सब से नीचे दरजे का अभ्यास करे, इसके बाद क्रमशः ऊँचे दरजे का अभ्यास करता और बढ़ाता जावे। उन्हीं दरजों को योग-दर्शन की परिभाषा में भूमि कहते हैं। विनियोग के अर्थ लगाना, काम में लाना आदि हैं। तात्पर्य यह हुआ कि योग की शक्ति, योग की भूमि में, लगाई जाती है तभी उसकी वृद्धि होती है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—(ये) तीन (धारणा, ध्यान और समाधि) पहलों (यम नियमादि) से अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—यम से प्रत्याहार पर्यन्त बहिरङ्ग और इनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—तो भी (उपर्युक्त तीनों धारणा, ध्यान और समाधि) निर्बीज (या असम्प्रज्ञात समाधि) का वहिरङ्ग है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान और समाधि ये साक्षात् साधन सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि के हैं परन्तु निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि के ये असाक्षात् कारण ही कहे जा सकते हैं। इसीलिये इन्हें निर्बीज समाधि की अपेक्षा वहिरङ्ग कहा गया है।

(२६) परिणाम विवरण

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध-क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ६ ॥

अर्थ—व्युत्थान संस्कार का छिपना और निरोध संस्कार का प्रकट होना और निरोध क्षण के चित्त से जिनका सम्बन्ध हो, उसे निरोध परिणाम कहते हैं।

व्याख्या—व्युत्थान के अर्थ विरोधाचरण के हैं। योग-दर्शन में व्युत्थान चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों को कहते हैं।

जिस समय चित्त निरुद्ध होता है तब ये व्युत्थान दब जाया करते हैं।

ये दोनों (व्युत्थान और निरोध) चित्त के धर्म हैं जिनमें से एक के उदय होने पर दूसरा अस्त हो जाया करता है। चित्त के तीन परिणाम हैं (१) निरोध परिणाम (२) समाधि परिणाम (३) एकाग्रता परिणाम। इनमें से इस सूत्र में पहले निरोध परिणाम का लक्षण किया गया है। जब चित्त का व्युत्थान संस्कार दब जाता है और चित्त निरुद्ध होकर संस्कार मात्र रह जाता है

तो चित्त की इस परिवर्तित संस्कार-शेष अवस्था को निरोध-परिणाम कहते हैं ।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

अर्थ—संस्कार से उस (चित्त) की प्रशान्त-वाहिता होती है।

व्याख्या—जब व्युत्थान संस्कार दब जाता है और निरोध संस्कार प्रकट हो जाता है तो इससे चित्त निर्मल होकर शान्त हो जाता है ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥११॥

अर्थ—चित्त की सर्वार्थता (सब विषयों में लगा रहना) का क्षय और एकाग्रता का उदय होना समाधि परिणाम कहलाता है।

व्याख्या—जब चित्त की ऐसी अवस्था हो जावे कि वह प्रत्येक विषय की ओर न जाकर किसी एक केन्द्र पर एकाग्रित हो जावे तो चित्त की इस एकाग्रित अवस्था का नाम समाधि परिणाम होता है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

अर्थ—शान्त बीते हुये को कहते हैं और उदित वर्तमान को, शान्त प्रत्यय वह ज्ञान है जो चित्त में पहले का है और उदित प्रत्यय वह ज्ञान है जो चित्त में अब आया है । जिस अवस्था में यह दोनों ज्ञान (शान्त और उदित) एक जैसे होकर रहने लगें तो चित्त की इस परिवर्तित अवस्था का नाम एकाग्रता परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इससे (पञ्च) भूतों और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्थापरिणाम (भी) कहा गया (समझो)।

व्याख्या—ऊपर जो चित्त के तीन परिणाम कहे गये हैं ऐसे ही पञ्चभूतों और इन्द्रियों में भी, धर्म, लक्षण और अवस्था भेद से, तीन परिणाम होते हैं जिन्हें धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहतेहैं। इन तीनों परिणामों का विवरण इस प्रकार है:—

पाँच भूत और इन्द्रियां सभी सत्व, रज और तम भेद से त्रिगुणात्मक हैं। परिणाम इन्हीं गुणों में हुआ करता है। परिणाम का अर्थ यह है कि एक गुण को छोड़कर दूसरे का धारण करना। इनमें पहला धर्म-परिणाम है। जैसे पांच भूतों में से एक भूत पृथ्वी का परिणाम मनुष्य, पशु और पक्षियों के शरीर तथा घर घटादि हैं दूसरा परिणाम लक्षण परिणाम है। इस परिणाम का कारण काल भेद है, जैसे पूर्व शरीर, वर्त्तमान शरीर और भविष्यत् शरीर। धर्म-परिणाम इस परिणाम से पृथक् नहीं रहता बल्कि धर्म-परिणाम ही काल भेद से लक्षण परिणाम हो जाता है। तीसरा अवस्था परिणाम जैसे पुराना घर, नया घर, जवान आदमी, बूढ़ा आदमी इत्यादि।

योगाचार्य लक्षण परिणाम के भविष्यत् परिणाम को साक्षात् रूप से, नहीं परन्तु शक्ति-रूप से अवस्थित मानते हैं। उन्होंने उदाहरण दिया है कि पीपल, वट और आम आदि के बीज से अवसर पाकर क्रम पूर्वक पीपल, वट और आम आदि के ही वृक्ष बनेंगे। इसका मतलब यह है कि भावी वृक्ष शक्ति रूप से वर्त्तमान बीज में उपस्थित हैं और यह ठीक है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

अर्थ—शान्त (बीते हुये), उदित (वर्त्तमान) और अव्यपदेश्य (बतलाने या निर्देश करने के अयोग्य=भविष्यत् धर्मों में गिरने (वा रहने) वाला धर्मी (कहलाता है)।

व्याख्या—बने हुये, बनते हुये और बनने वाले प्रत्येक घड़े में मिट्टी मौजूद रहती है। इसीलिये घड़ा धर्म और मिट्टी धर्मी है। प्रकृति के जितने भी विकार महत्तत्व से लेकर स्थूल भूत पर्यन्त हैं; इनमें से जो भी मिट्टी के सदृश धर्मी होंगे वे सभी सापेक्ष धर्मी ही कहे जावेंगे। निरपेक्ष धर्मी तो केवल कारण रूप प्रकृति ही है। एक बात इस धर्म और धर्मी के सम्बन्ध में याद रखने योग्य है कि अन्य दर्शनों में गुण गुणी को प्रायः धर्म और धर्मी कहा गया है परन्तु योग दर्शन में धर्म और धर्मी शब्द कार्य और कारण के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

क्रमान्यत्वं परिणामाऽन्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

अर्थ—क्रम भेद परिणाम भेद में हेतु है।

व्याख्या—क्रम भेद का भाव यह है कि कपाससे रुई निकाली गई, रुई से सूत बना और सूत से वस्त्र तय्यार हुआ। तो यहाँ वस्त्र तक पहुँचने में यह जितना क्रम-भेद हुआ वही क्रम-भेद अनेक परिणामों का कारण है। कपास से रुई, फिर रुई से सूत, फिर सूत से वस्त्र ये तीन (धर्म) परिणाम क्रम भेद से ही हुए हैं। ये भेद धर्म परिणाम के हैं इन्हीं में काल और अवस्था भेद से अनेक लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम होते हैं। इन अन्तिम परिणामों का कारण भी वही क्रम-भेद है।

(३०) विभूति

पहली विभूति

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

अर्थ—तीनों परिणामों के संयम से अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) का ज्ञान होता है।

व्याख्या—संसार के तीनों कालों में होने वाले समस्त पदार्थ इन्हीं तीन (धर्म, लक्षण और अवस्था) परिणामों के अन्तर्गत रहते हैं। जब योगी इन्हीं (तीन) परिणामों में संयम करेगा तो उसको उस पदार्थ के, जिससे ज्ञान के लिये उसने संयम किया है, भूत और भविष्यत् का ज्ञान हो जायगा। ऊपर कहा जा चुका है (देखो सूत्र १३ की व्याख्या) कि भविष्यत्, शक्ति रूप से, वर्तमान में मौजूद रहता है ऐसी दशा में भविष्यत् के ज्ञान हो जाने का आश्चर्य ही क्या हो सकता है ? यहां से उन विभूतियों

(सिद्धियों) का वर्णन शुरू हुआ है जिन्हें योगी-जन प्राप्त कर लिया करते हैं। संयम करने का अभिप्राय अपनी समस्त (धारणा, ध्यान और समाधि से उपलब्ध) आत्मशक्तियों को किसी एक विषय में लगा देने से है।

दूसरी विभूति

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

अर्थ—शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) में अन्य में अन्य का अभ्यास (अशुद्ध कल्पना) करने से सब सङ्कर (एकमेव) हो जाते हैं। (परन्तु) उनके विभाग (शब्द, अर्थ और ज्ञान) में संयम करने से सब की बोली का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शब्द वाचक जैसे जल, अर्थ वाच्य अर्थात् वह पतली चीज़ जिसके पीने से प्यास शान्त होती है और ज्ञान चित्त की वृत्तियों की तदाकारता। ये तीनों पृथक् २ अपनी २ सीमा रखते हैं। साधारण लोग जो इस सीमा को नहीं समझते एक की जगह दूसरे का प्रयोग करते हैं, परन्तु योगी, यथार्थ ज्ञानी होने से, तीनों की पृथक् २ सीमाओं को जानता है, वह शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को भी जानता है। सम्बन्ध की नित्यता के कारण शब्द से अर्थ पृथक् नहीं किया जा सकता। जब योगी किसी शब्द में, चाहे वह मनुष्य की बोल चाल का शब्द हो अथवा पशु पक्षियों का, संयम करता है तो उसे उस

शब्द का अर्थ ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार वह प्रत्येक प्राणी की बोली समझ सकता है।[1]

तीसरी विभूति

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

अर्थ—संस्कार के साक्षात् करने से पूर्व जाति (जन्म) का ज्ञान (हो जाता है) ।

व्याख्या—मनुष्य का सूक्ष्म शरीर जो मन, बुद्धि और चित्तादि का समुदाय होता है, मृत्यु होने पर स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने से, नष्ट नहीं होता सूक्ष्म शरीर में चित्त, जन्म जन्मान्तर के रिकार्ड के रूप में होता है। उसमें तीन चीजें होती हैं (१) स्मृति (२) वासना (३) संस्कार। (१) जन्म जन्मान्तर का प्राप्त ज्ञान स्मृति रूप में रहता है, (२) किये हुये अच्छे बुरे कर्म वासना के रूप में (फल प्राप्ति के लिये) और (३) जन्म जन्मान्तर के पड़े हुये प्रभाव (Impressions) संस्कार के रूप में चित्त में रहते हैं। अनेक बालक जिनके अच्छे संस्कार होते हैं, पिछले जन्म

---

(१) किपलिङ्ग ने अपनी जङ्गल बुक में लिखा है कि एक मनुष्य जिसको उसने मौगली (Mowgli) लिखा है वह भेड़ियों से उनकी भाषा बोलकर बातचीत किया करता था (Jungle book by Kipling) । स्टूअर्ट (Stewart) महोदय एक दूसरे व्यक्ति हैं, जिनका हाल इङ्गलैण्ड के (Daily Hearld) में छपा है, जो भेड़ियों से न केवल बातचीत करते थे बल्कि उनके साथ खेलते भी थे। (Vide Leader Dated 5-9-1931.)

का हाल बता दिया करते हैं परन्तु ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी नैसर्गिक शुद्धता कम होने लगती है, और उनके अन्तःकरणों पर माया और मोह का आवरण पड़ने लगता है। इसका फल यह होता है कि पिछले जन्म का चित्त रूप रिकार्ड (लेख पत्र) साथ होते हुये भी उसे जान नहीं सकते। परन्तु जब योगी इस आवरण को, अपनी उपलब्ध शुद्धता और यथार्थ-ज्ञता से हटा दिया करता है तब वह चित्त रूपी पट्टिका के पढ़ने के योग्य होकर अपने पिछले जन्म का हाल जान लिया करता है। योग दर्शन के इस सूत्र में स्मृति वासना और संस्कार सब का, एक नाम संस्कार दिया गया है। संस्कार के साक्षात करने का भाव उपर्युक्त आवरण का चित्त से हटा देना मात्र है।

चौथी विभूति

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रत्यय के (साक्षात् करने से) दूसरों के चित्त का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—मनुष्य के चित्त की प्रवृत्ति कि वह राग युक्त है या दोष युक्त, उसके चेहरे, उसकी आँखों आदि से, अनुभवी पुरुषों को अथवा उन विद्वानों को, जिन्होंने आकृति विद्या (Seience of Facial Expressiou) का अध्ययन किया है, ज्ञात हो जाया करती है। अनुभव और आकृति-विद्या के अध्ययन दोनों से योगी की शक्ति जिससे वह संयम करता है, अधिक होती है, इसलिये

योगी को पराये चित्त का प्रकार समझने में कुछ भी कठिनता नहीं होती। अवश्य योगी यह नहीं जान सकता कि किसी दूसरे के चित्त की प्रवृत्ति किस विषय (धन-स्त्री आदि) की ओर है क्योंकि योगी ऐसे विषयों में संयम नहीं कर सकता क्योंकि इसमें उसके पतन होने का भय है।

पांचवीं विभूति

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २० ॥

अर्थ—काय (शरीर) के रूप में संयम करने से उस शरीर की ग्राह्य शक्ति रुक जाने और उस (शरीर के रूप) का आँख के प्रकाश से संयोग न रहने पर (योगी) अन्तर्धान (हो सकता है) ।

व्याख्या—जहाँ आँखों में देखने की शक्ति है वहाँ रूपवाली वस्तुओं में दिखाई देने की योग्यता (ग्राह्य शक्ति) भी होती है यदि वह योग्यता न हो या न रहे तो फिर कोई उस रूप वाली वस्तु को नहीं देख सकता। योगी अपने शरीर के रूप में संयम करके उसकी (शरीर के रूप से दिखाई देने की योग्यता) ग्राह्य-शक्ति को रोक देता है। फल उसका यह होता है कि कोई दूसरा उस (योगी) को नहीं देख सकता। यही योगी का अन्तर्धान होना है।

छठी विभूति

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म, तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्म (के) सोपक्रम और निरुपक्रम (दो भेद) हैं उस (कर्म) में संयम करने अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—आयु नियत करने वाले कर्म के दो भेद हैं। (१) सोपक्रम, जो शीघ्र फल देने वाले और (२) निरुपक्रम, जो देर से फल देने वाले होते हैं। आयु इन्हीं कर्मों का फल होती है इसलिये कारणरूप, किये हुये कर्म के भेदों में, संयम करने से, कार्य्यरूप मृत्यु का ज्ञान, हो जाता है।

अरिष्ट तीन प्रकार के हैं (१) आध्यात्मिक अर्थात् भीतर के घोष (अनहद शब्द) के सुनने का अभ्यास होते हुये, उनका, कान बन्द कर लेने पर भी सुनाई न देना (२) आधिभौतिक अर्थात् भयप्रद सूरतों वा मरे हुये अपने सम्बन्धियों का इस प्रकार से दिखाई देना कि मानों वे सामने ही खड़े हैं (३) आधिदैविक अर्थात् आकाशस्थ नक्षत्र वा तारों का उलटा पुलटा दिखाई देना। अरिष्ट का अर्थ वे बुरे चिह्न हैं जो मरने से पहले दिखाई देने लगते हैं। इसलिये इन अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

सातवीं विभूति

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२२॥

अर्थ—मैत्री आदि में संयम करने से बल (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या—पहले पाद के ३३ वें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इन चार भावनाओं का वर्णन किया गया है। इनमें से

प्रथम तीन में संयम हो सकता है। उन में संयम करने से योगी को मैत्र, करुणा और मुदिता का बल प्राप्त हो जाता है। उपेक्षा में संयम इसलिये नहीं हो सकता कि कोई भी अनिष्ट वस्तु, पाप आदि, योगी के संयम का विषय नहीं बन सकती। उपेक्षा करने का भाव भी यही है कि योगी उन (पापियों) से पृथक् रहना चाहता है।

आठवीं विभूति

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२३॥

अर्थ—बलों में (संयम करने से) हाथी आदि के बल (प्राप्त) हो जाते हैं।

व्याख्या—हाथी, सिंह आदि जिसके बल में भी संयम किया जावेगा उसी का बल योगी को प्राप्त हो जावेगा। योगी यम नियम का पालन करके जिसमें ब्रह्मचर्य्यादि अनेक दिव्य-बल-प्रद नियम सम्मिलित हैं, स्वयमेव अत्यन्त बलवान् होता है फिर संयम के द्वारा उसके लिये और भी बल बढ़ा लेना क्या कठिन बात है?

नवमी विभूति

प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२४॥

अर्थ—प्रवृत्ति के आलोक (प्रकाश) को (उनमें) रखने से सूक्ष्म व्यवहित (आड़ में रहने वाले पदार्थ) और दूर का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—पहले पाद के सूत्र ३६ में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की बात कही गई है। उसी प्रवृत्ति के प्रकाश को सूक्ष्म, दृष्टि से ओझल

और दूर के पदार्थ के साथ संयुक्त करने से योगी को उनका ज्ञान हो जाता है।

दसवीं विभूति

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२५॥

अर्थ—भुवन का ज्ञान सूर्य में संयम करने से (हो जाता है)।

ग्यारहवीं विभूति

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२६॥

अर्थ—चन्द्र में (संयम करने से) नक्षत्रों की स्थिति (Position) का ज्ञान (हो जाता है)।

बारहवीं विभूति

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२७॥

अर्थ—ध्रुव में (संयम करने से) उन (नक्षत्रों) की गति का ज्ञान (हो जाता है)।

सूत्र २५, २६ और २७ की व्याख्या—इन सूत्रों में सूर्य, चन्द्र और ध्रुव का अर्थ बाह्यसूर्य चन्द्रादि नहीं है किन्तु इनका अभिप्राय आन्तरिक सूर्य चन्द्रादि से है। शरीर में तीन नाड़ियां इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा हैं। इनमें से इड़ा जो शरीर के दक्षिण भाग से शुरू होकर ऊपरी उत्तरी भाग तक जाती है वह सूर्य। और पिंगला जो शरीर के बायें भाग से प्रारम्भ हो ऊपरी दक्षिण भाग तक गई है वह चन्द्र और इन दोनों के मध्य खड़ी नाड़ी, जो रीढ़ की हड्डी से होकर गई है, ध्रुव कहलाती है। किस प्रकार

इनमें संयम करने से भुवन, नक्षत्र और नक्षत्रों की गति का ज्ञान होता है इसके समझने में, बेतार के तार बरकी की कार्यप्रणाली समझने से सुगमता होती है। इसलिए उसका विवरण उपोद्घात में दिया गया है। मनुष्य शरीर ब्रह्मांड का सूक्ष्म रूप है। इसलिए भुवन शरीर को भी कहते हैं और बाह्य ब्रह्मांड को भी। सुषुम्णा नाड़ी शरीर की मुख्य नाड़ी है और जितने (सूर्यादि) चक्र हैं वे सब इसी में हैं। इसलिए इस नाड़ी में संयम करने से समस्त शरीर का भी ज्ञान हो जाता है और शरीर के बाहर का भी। शरीर के अन्तर्गत के ज्ञान में, समस्त नाड़ी जो नक्षत्र स्थानी हैं, और उनकी गति के प्रकार आदि का सभी ज्ञान सम्मिलित हैं।

तेरहवीं विभूति

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२८॥

अर्थ—नाभि-चक्र में (संयम करने से) शरीर की बनावट ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शरीर त्रिदोष वात, पित्त और कफ और सात धातु (१) त्वचा, (२) चर्म, (३) मांस, (४) स्नायु, (५) अस्थि, (६) मज्जा (चर्बी), और शुक्र का समुदाय है। नाभि केन्द्र को कहते हैं। शरीर का केन्द्र होने ही से नाभि, "नाभि-चक्र" कहलाता है। इस चक्र में संमम करने से योगी को समस्त शरीर का, कि वह किस प्रकार उपर्युक्त वस्तुओं से बना और उनका संग्रह है, ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं विभूति

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥२९॥

अर्थ—कंठ कूप में (संयम करने से) भूख प्यास की निवृत्ति (होजाती है)।

व्याख्या—जिह्वा के नीचे सूत के समान एक नश है उस तंतु के अधो भाग में कंठ, और कंठ के अधो भाग में कूप (छिद्र) है जहां उदान वायु रहता है। किये हुए भोजनादि को यही वायु आमाशय में पहुँचाता है और जब आमाशय ख़ाली होता है तो उसकी खबर भी यही (उदान) वायु देता है। कंठ कूप में संयम करने से उदान का काम रुका रहता है, काम रुकने का अभिप्राय यह है कि वह अब भूख प्यास की ख़बर नहीं दे सकता। जब तक ख़बर न हो मनुष्य भूख प्यास की चिन्ता से निवृत्त रहता है। इसलिए जब तक योगी संयम किये रहेगा उसे भूख प्यास तकलीफ़ न दे सकेंगी।

पन्द्रहवीं विभूति

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३०॥

अर्थ—कूर्म नाड़ी में (संयम करने से) स्थिरता (होती है)।

व्याख्या—कंठ कूप के नीचे वक्षःस्थल में, कछुए के आकार की, एक नाड़ी है, उसी को कूर्म नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करने से योगी का चित्त स्थिर हो जाता है।

सोलहवीं विभूति

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से) सिद्धों का दर्शन होता है।

व्याख्या—शिर में कपाल (खोपड़ी) के भीतर एक अत्यन्त प्रकाशमान छिद्र होता है उसमें संयम करने से योगी के चेहरे की आकृति इस प्रकार की हो जाती है जिससे, योग में निपुण व्यक्ति, उसे देख कर समझ ले कि वह योगाभ्यासी है और इस प्रकार समझ लेने पर उस अभ्यासी से, सिद्धि प्राप्त योगी, मिलने में संकोच नहीं करते जैसा कि अयोगियों से, वे सदैव किया करते हैं। यही सिद्ध दर्शन का तात्पर्य है।

सतरहवीं विभूति

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—अथवा प्रातिभ ज्ञान (Intuitinal insight) से प्रत्येक वस्तु का (ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या—'भा' प्रकाश को कहते हैं। प्रतिभा वह प्रकाश (ज्ञान) जो भीतर से उत्पन्न हो। इसी प्रतिभा से प्रतिभ शब्द बनाया गया है। प्रातिभ के अर्थ भी वही हैं जो प्रतिभा के हैं। अर्थात् वह ज्ञान जो भीतर (आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति) से उत्पन्न हो। इस ज्ञान के उत्पन्न होने का तात्पर्य यह है कि आत्मा प्राकृतिक आवरण से मुक्त होगया और अब स्वयमेव ज्ञान प्राप्त

करता है किसी अन्तः या बाह्य करण की, ज्ञानोपलब्ध करने में, उसे अपेक्षा नहीं। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर आत्मा के लिए, बिना किसी प्रतिबन्ध के, जो चाहे वह प्रत्यक्षवत् हो जाता है। व्यास ने अपने भाष्य में लिखा है कि मस्तिष्क में एक तारा (स्थान विशेष) है जो प्रतिभा उत्पन्न करता है इसीलिए उसे प्रातिभ कहते हैं। उसी प्रातिभ पर संयम करने से योगी सब कुछ जान लिया करता है। इसका भी तात्पर्य यही है कि भीतर से ज्ञान (Intuitional insight) उत्पन्न किया जावे।

अठारहवीं विभूति

हृदये चित्तसंवित् ॥३३॥

अर्थ—हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान (हो जाता) है।

व्याख्या—हृदय कमलाकार एक पिंड है। चित्त उसी में रहता है। इसलिये उस पिंड में संयम करने से उसके भीतर रहने वाले चित्त का साक्षात् ज्ञान योगी को हो जाता है। चित्त के साक्षात् होने का तात्पर्य यह है कि उसके भीतर रहने वाली वासना आदि का ज्ञान योगी को हो गया।

उन्नीसवीं विभूति

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३४॥

अर्थ—बुद्धि और पुरुष (जीव) में (एक दूसरे से जो) अत्यन्त भिन्न हैं, अभेद ज्ञान (दोनों को एक समझना) भोग कहलाता है। यह भोग पदार्थ है, स्वार्थ में संयम करने से जीव का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—बुद्धि और पुरुष प्रकार की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। बुद्धि जड़ है परन्तु पुरुष (जीव) चेतन है। बुद्धि में चेतना का प्रकाश जीव ही से आता है जब कि जीव स्वयमेव चेतना प्रकाश युक्त है। परन्तु सांसारिक भोगों को भोगते हुये इन दोनों की भिन्नता को विसार दिया जाता है और बुद्धि अथवा मन अपने को जीव ही समझने लगता है। और जीव भी रज और तम की अधिकता से भिन्नता के विचार पर स्थिर सा नहीं रहता और इस प्रकार बुद्धि और जीव के अभिन्नता ज्ञान ही से भोग की सृष्टि रची जाती है। स्पष्ट है कि ये भोग-इन्द्रियों और अन्तःकरण द्वारा ही साक्षात् रीति से भोगे जाते हैं। जीव को तो असाक्षात् भोक्ता ही कहा जा सकता है। इसलिये भोग पदार्थ हुआ। जब इस बुद्धि भोग्य और भोग साधनों से सर्वथा भिन्न जीव इस पदार्थ भोग का त्याग करके अपने ही अर्थ में संयम करता है अर्थात् संयम का विषय स्वयमेव जीव वन जाता है तब उस संयम से जीव अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

बीस से पचीसवीं विभूति

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥ ३५ ॥

अर्थ—उस (आत्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने) के बाद प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वात (ये ६ सिद्धियां) प्राप्त हो जाती हैं।

व्याख्या—प्रातिभ दूर तथा आड़ में रहने वाली वस्तुओं का ज्ञान हो जाना, श्रावण दिव्य शब्द सुनने की योग्यता, वेदना दिव्य स्पर्श ग्रहण शक्ति, आदर्श दिव्य रूप ग्रहण कर सकना, आस्वाद दिव्य रस का ज्ञान और वार्त्ता दिव्य गन्ध ग्रहण की योग्यता। ये ६ विभूतियां और भी, आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर, योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३६ ॥

अर्थ—वे (उपर्युक्त ६ सिद्धियाँ) समाधि में तो विघ्न हैं (परन्तु) व्युत्थान में सिद्धियां हैं।

व्याख्या—ये उपर्युक्त ६ सिद्धियाँ स्थिर चित्त वाले योगी का जब यह कैवल्य समाधि लगाता हो, विघ्न रूप हैं क्योंकि उनसे ईश्वर दर्शन में विघ्न पड़ता है परन्तु उन योगियों को जिन्हें केवल चित्त के एकाग्र करने की योग्यता प्राप्त हुई है और जो व्युत्थान (समाधि से जाग उठने की सी अवस्था) में रहते हैं, अवश्य सिद्धियाँ हैं।

छब्बीसवीं विभूति

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेऽऽशः ॥ ३७ ॥

अर्थ—चित्त के बन्धन का कारण शिथिल और प्रचार

(मार्ग) का ज्ञान हो जाने से (चित्त) पराये शरीर में प्रवेश हो सकता है।

व्याख्या—चित्त (मन) अत्यन्त चंचल है उसके एक शरीर (स्थूल) में स्थित रहने का कारण कर्म का बंधन है। जब धारणा ध्यान और समाधि के अभ्यास से योगी, सकाम कर्म छोड़ कर केवल निष्काम कर्म का आश्रय लेता है, तो वासनाओं के न बनने से, (सकाम) कर्म का बन्धन शिथिल होजाता है, और संयम से योगी चित्त के चलने का मार्ग (नाड़ी) जान लेता है तब उसके चित्त में अपने से भिन्न शरीर में जाने की योग्यता प्राप्त होजाती है। चित्त के परशरीर में प्रवेश का अभिप्राय यह है कि योगी अपने चित्त को, दूसरे शरीर में भेज कर उस (दूसरे शरीर) का हाल जान लेता है, यह अभिप्राय नहीं है कि दूसरे शरीर को अपने चित्त के अनुसार चलाने लगता है हां कुछ काल (क्षण) के लिए तो यह भी सम्भव है।

सत्ताईसवीं विभूति

उदानजयाज्जलपङ्ककण्ठकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३८॥

अर्थ—उदान (कंठ में रहने वाले प्राण)के जीत लेने से जल, कीचड़ और कांटे आदि से असङ्ग (रहता है) और (इच्छा-नुसार) उत्क्रान्ति (मरना) होती है।

व्याख्या—पांच प्राणों में से उदान वह है जिसका स्थान कंठ है और जो वंधन ग्रस्त मनुष्य की आत्मा को मरने पर दूसरे शरीर में ले जाया करता है। इस उदान में संयम करने से

मनुष्य का शरीर बहुत हलका हो जाता है और उदान पर उस (योगी) का अधिकार भी हो जाता है।

शरीर के हलके होने से उसे जल, कीचड़ आदि का भय नहीं रहता। वह सुगमता से उन्हें उलंघन कर लेता है और उदान पर अधिकार होने से, आत्मा, उसके बन्धन से, स्वतन्त्र हो जाता है और योगी इच्छानुसार अपने आत्मा को शरीर से निकालता है और इस प्रकार अपनी आयु भी बढ़ा सकता है।

अट्ठाईसवीं विभूति

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—समान (नाभिस्थ प्राण) के जय से, तेजस्विता (आ जाती है)।

व्याख्या—नाभि चक्र शरीर का केन्द्र है इस पर अधिकार हो जाने से, योगी की तेजस्विता, बढ़ जाती है। इस पर अधिकार, "समान प्राण" में संयम करने से हो जाता है।

उन्तीसवीं विभूति

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४०॥

अर्थ—श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं।

व्याख्या—श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द दोनों का कारण आकाश (Ether) है। जब इस कार्य्य और कारण भाव में योगी संयँम करता है तो आकाश में उपस्थित ऐसे सूक्ष्म और मधुर शब्दों को,

जिन्हें साधारणतया कानों से नहीं सुन सकते और जिन्हें दिव्य शब्द भी कहते हैं, सुनने लगता है। शरीर के अन्तर्गत होने वाले घोष को भी दिव्य शब्द कहते हैं, उनको भी कान से कोई नहीं सुन सकता। उनके सुनने के लिये भी कान को बन्द कर लेना ही पड़ता है।

तीसवीं विभूति

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—शरीर और आकाश (Space) के सम्बन्ध में संयम करने और लघु (हलके) तूल (रुई के फोये) में समापत्ति (संयम करने) से आकाश गमन (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—शरीर और आकाश (अवकाश) में आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध में संयम करने और रुई के फोये सदृश किसी हलकी वस्तु में संयम करके, तदाकारता प्राप्त हो जाने से, योगी का शरीर बहुत हलका हो जाता है और हलका होकर जल या मकड़ी के जाले तक पर चलने में कोई कठिनता नहीं होती। अनेक सरकसों में देखा गया है कि अभ्यास करने से, सरकस के खिलाड़ी तार पर बाईसिकल चला सकते हैं; स्वयं दौड़ सकते हैं, फिर योगी के संयम और अभ्यास से, आकाश गमन की योग्यता प्राप्त हो जाने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है।

इकतीसवीं विभूति

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशाऽऽवरणक्षयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—(शरीर से) बाहर अकल्पिता-वृत्ति महा-विदेहा (कहलाती है) उससे प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है।

व्याख्या—यत्न पूर्वक शरीर से बाहर हो जाने वाली मन की वृत्ति 'कल्पिता' कहलाती है, परन्तु बिना यत्न के जो मन की वृत्ति बाहर रहने लगती है उसे 'अकल्पिता' कहते हैं। इस अकल्पिता वृत्ति को महा विदेहा भी कहे जाने का कारण यह है कि यह शरीराभिमान शून्या होती है अर्थात इसे शरीर की अपेक्षा नहीं होती। इस (अकल्पिता) वृत्ति के प्रादुर्भूत हो जाने से, रजो गुण और तमोगुण मूलक आवरण दूर हो जाते हैं।

बत्तीसवीं विभूति

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४३ ॥

अर्थ—(पञ्च महाभूतों) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से महाभूत जीते जाते हैं।

व्याख्या—(१) स्थूल—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की स्थूलता।

(२) स्वरूप—पृथ्वी का काठिन्य, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता, वायु की गति और

आकाश का अनावरण (न रुकना) स्वरूप है।

(३) सूक्ष्म—स्थूल भूतों को पञ्चतन्मात्रा=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह सूक्ष्म हुये।

(४) अन्वय=सत्व, रज और तम भेद से त्रिगुणान्वयिनी पृथ्वी, इसी प्रकार त्रिगुणान्वयी जल, अग्नि और आकाश ये ५ अन्वय हुये।

(५) अर्थवत्व—५ भूतों का भोग मोक्ष रूप अथ वाला होना अर्थवत्व है।

ये २५ रूप पञ्च महाभूतों के हुये। इनसे बाहर भूतों का भूतत्व और कुछ नहीं है। इसलिये जब योगी इन पञ्चभूतों के उपर्युक्त २५ रूपों में संयम करता है तो उसका, प्रकृति के विकार, इन ५ भूतों पर, अधिकार हो जाता है, यही भूत जय का अभिप्राय है।

तेंतीसवीं से व्यालीसवीं तक विभूति

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४४॥

अर्थ—उस (भूत जय) से अणिमादि का प्रादुर्भाव, देह की संपदा (ऐश्वर्य) और उन (५ भूतों) के धर्मों (कार्यों) के चोट से बचाव हो जाता है।

व्याख्या—५ महाभूतों के अधिकृत हो जाने से (सूत्र ४३), योगी को, १० सिद्धियां और भी, प्राप्त हो जाती हैं।

(१) अणिमा=देह को सूक्ष्म कर लेना ।

(२) लघिमा=शरीर को हलका कर लेना ।

(३) महिमा=शरीर को बढ़ा सकना ।

(४) प्राप्ति=जिस पदार्थ को चाहे प्राप्त कर लेना ।

नोट—५ भूतों के स्थूल रूप में संयम करने से ये ४ विभूतियां प्राप्त होती हैं ।

(५) प्राकाम्य=बिना रुकावट के इच्छा का पूरा होना ।

नोट—यह सिद्धि, पंच भूतों के स्वरूप में संयम करने से, सिद्ध होती है ।

(६) वशित्व=५ महाभूतों और भौतिक पदार्थों का अपने वश में कर सकना ।

नोट—यह भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने का फल है ।

(७) ईशित्व=शरीर और अन्तःकरणों का अधिकार में हो जाना ।

नोट—यह विभूति अन्वय में संयम करने से प्राप्त होती है ।

(८) यत्र कामावसायित्व=प्रत्येक संकल्प का पूरा हो जाना ।

नोट—यह सिद्धि अर्थवत्त्व में संयम करने से प्राप्त होती है।

---

(१) इन अणिमादि ८ विभूतियों के सिवा भोजवृत्ति में "गरिमा" (भारी हो सकना) नाम की एक नवीं विभूति और लिखी है परन्तु वह "महिमा" के अन्तर्गत आ जाती है इस लिये उसे पृथक् नहीं लिखा गया ।

(६) काय सम्पत्—इसका विवरण आगे के ४५वें सूत्र में दिया गया है।

(१०) तद्धर्मानभिघात = पञ्च महाभूतों के कार्य, योगी के लिए विघ्नकारक नहीं होने पाते।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—रूप, लावण्य और वज्र संहननत्व का नाम काय-संपत् है।

व्याख्या—मुखाकृति का अच्छा होना रूप और सौंदर्य का नाम लावण्य है। वज्र के तुल्य शरीर के अंग प्रत्यंग का दृढ़ होना "वज्रसंहननत्व" कहलाता है और तीनों गुणों का एक नाम कायसंपत है।

तेतालीसवीं विभूति

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४६॥

अर्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम करने से इन्द्रिय-जय होता है।

व्याख्या—(१) इन्द्रियों की, देखने, सुनने और सूंघने आदि वृत्तियों को, "ग्रहण" कहते हैं। (२) इन्द्रियों के गोलक और उनकी बाह्य बनावट, "स्वरूप" कही जाती है। (३) मैं देखता हूं, मैं सुनता हूँ इत्यादि अहङ्कार रूप भावना का नाम अस्मिता है। (४) इन्द्रियों के साथ लगे हुये तीन गुण सत्व, रज और तम अन्वय कहे जाते हैं। (५) भोग मोक्ष रूप फल अर्थवत्त्व कहा

जाता है। इन पांच के अन्तर्गत इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रत्येक बात आ गई। इसलिये इनमें संयम करने से, योगी का, इन्द्रियों पर अधिकार, हो जाता है।

चवालीस से छियालीस तक, ३ विभूतियां

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४७ ॥

अर्थ—उस (इन्द्रिय जय) से मनोवेग, विकरणभाव (होता है) और प्रकृति भी जीती जाती है।

व्याख्या—(१) मनोजवित्व=मन के समान शरीर का वेगवान होना।

(२) विकरण भाव=इन्द्रियों से काम न लेकर भी इन्द्रियों के इष्ट विषय को प्राप्त कर लेना (Un-instrumental perception) विकरण भाव कहलाता है।

(३) प्रकृति पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लेना 'प्रधान जय' कहा जाता है।

ग्रहण में संयम करने से मनोजवित्व, स्वरूप में संयम का फल विकरण भाव और शेष तीन अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से प्रधान जय की प्राप्ति होती है।

नोट—इन तीनों (मनोजवित्व, विकरण भाव और प्रधान जय) सिद्धियों का, एक सम्मिलित नाम "मधु प्रतीक" है।

सैंतालीसवीं और अड़तालीसवीं विभूति

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

अर्थ—सत्व (बुद्धि) और पुरुष (जीव) के भेद ज्ञान का (फल) सब भावों का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होना है।

व्याख्या—बुद्धि जड़ और आत्मा से प्रकाश पाने पर भी ससीम ज्ञान और शक्ति वाली रहती है परन्तु आत्मा (जीव) अप्राकृतिक, चेतन और स्वरूप से शुद्ध, निर्मल और स्वयं प्रकाश वाला है। जब मनुष्य आत्मा का अध्यारोप बुद्धि में करता और बुद्धि को आत्मा समझने लगता है तो इसका फल यह होता है कि बुद्धि की जड़ता, ससीमता आदि का आवरण बुद्धि और आत्मा के बीच में आ जाने से मनुष्य अधिक अल्पज्ञता का अनुभव करने लगता है। परन्तु जब इन बुद्धि और आत्मा के भेद का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तब योगी की बुद्धि और आत्मा के बीच से उपर्युक्त आवरण हट जाता है। तब आत्मा, अपने उपास्य परमात्मा में, तल्लीन होकर, उसके गुण सर्वभाव अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व को प्राप्त कर लिया करता है। ईश्वर के गुणों सर्व-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व के प्राप्त कर लेने का मतलब यह नहीं है कि जहां तक इन गुणों का सम्बन्ध है, उस जीव और ईश्वर में, कुछ अन्तर नहीं रहा। क्योंकि ईश्वर में तो ये गुण नित्यता रखते हैं और उसका इन से समवाय सम्बन्ध है परन्तु जीव में इनकी अनित्यता होती है, इसलिये जीव का, इन गुणों से संयोग सम्बन्ध है। ईश्वर की तरह जीव सर्वाधार और सर्वज्ञ भी नहीं होता—विभूति का अभिप्राय अन्य साधारण अयोगियों की अपेक्षा योगी का अधिक आधार और ज्ञान वाला होता है।

नोट—इन दोनों सिद्धियों का सम्मिलित नाम "विशोका" है क्योंकि इनके प्राप्त हो जाने से मनुष्य शोक रहित हो जाता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥४९॥

अर्थ—उस (विभूति) से भी वैराग्य हो जाने और दोष के बीज का क्षय हो जाने से कैवल्य (मुक्ति) हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी सूत्र ४८ में कहे अनुसार सर्वभाव, अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व को अपने उपास्यदेव से प्राप्त कर लेता है तब उसका प्रेम, प्रभु की ओर, और भी अधिक बढ़ने लगता है और प्राकृतिक (इन्द्रिय विषयों से) सुख उसे निस्सार जँचने लगते हैं। इसका फल यह होता है कि भविष्य में नवीन दोष बीज (वासना) नहीं उत्पन्न होता और जो इस समय है वह क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार वासना के अभाव से भावी जन्म का अभाव होकर योगी आवागमन के चक्र से छूट जाता है। इसी का नाम कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है और जब तक वर्तमान शरीर और जीवन रखता है वह मुक्त जीव कहलाता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥५०॥

अर्थ—स्थानियों (समीप रहने वालों) के निमन्त्रण में, फिर अनिष्ट न लगने (के भय) से संग और स्मय (घमण्ड) नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—(१) सवितर्का, (२) निर्वितर्का, (३) सविचारा और (४) निर्विचारा समाधियों की योग्यता की दृष्टि से चार

प्रकार के योगी होते हैं। इन में से प्रथम श्रेणी के योगी तो प्रारम्भिक अभ्यास वाले होते हैं, इन्होंने पर चित्तादि के जानने की योग्यता अभी प्राप्त नहीं की। इन्हें तो अयोग्य समझ कर कोई निमन्त्रण ही नहीं देता। द्वितीय श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने, निर्वितर्का समाधि द्वारा, मधुमती ऋतंभरा प्रज्ञा को पाकर पञ्चभूतों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति का यत्न जारी कर रक्खा है। इन्हीं को गृहस्थ नर नारी आदर सत्कार पूर्वक निमंत्रण देते हैं। तृतीय श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने स्वार्थ संयम से विशोका विभूतियों को प्राप्त कर लिया है। चतुर्थ श्रेणी के योगी वे हैं जिन्होंने मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका विभूतियों को प्राप्त करके उनसे भी वैराग्य प्राप्त कर लिया है। इनमें तीसरे और चौथे श्रेणी के योगियों को पूर्ण जितेन्द्रिय होने से किसी प्रकार से भी पतित होने का भय नहीं है। यह सूत्र केवल द्वितीय श्रेणी के योगियों से सम्बन्धित है। उन्हीं के लिये कहा गया है कि यदि उन्हें निमन्त्रण दिया जावे तो नम्रता के साथ उसे अस्वीकार कर देवे और उस संग से अपने को बचाये रक्खे। परन्तु यह समझ कर कि बहुत लोग उसे निमन्त्रण देते हैं, अभिमान भी न करे क्योंकि जहाँ वह सङ्ग उसके लिये हानिकारक नियम है उसी प्रकार यह अभिमान भी हानिकारक है। क्योंकि यह नियम है कि जब मनुष्य अपने को बड़ा समझने लगता है तभी उसकी भावी उन्नति रुक जाती है।

उनचासवीं विभूति

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५१॥

अर्थ—क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या—समय के परमाणु का नाम क्षण है। एक क्षण के बाद दूसरे, तीसरे क्षण के बराबर आते रहने को क्रम कहते हैं। अस्ल में, समय वस्तु शून्य और केवल बुद्धि की निर्माण की हुई एक वस्तु है। परन्तु व्यवहार में प्रायः सभी लोग वस्तु के सदृश मानते हैं और प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु उसके अन्तर्गत रहती है और उसके परिणाम भी क्षण और उनके क्रम के भीतर ही हुआ करते हैं। अपरिणामी केवल आत्मा और परमात्मा है। विवेकज ज्ञान का भाव यह है कि आत्मा को प्राकृतिक पदार्थों शरीर, चित्त और बुद्धि आदि से पृथक् समझा जावे। जिस समय योगी क्षण और उनके क्रम में संयम करता है तो उसे प्राकृतिक पदार्थों की यथार्थ सीमा, परिणामी होने के कारण, ज्ञात हो जाती है और अपरिणामी होने से आत्मा को वह इन से पृथक् समझने लगता है, इसका निश्चयात्मक ज्ञान हो जाना ही विवेकज ज्ञान कहलाता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५२॥

अर्थ—जाति, लक्षण और देश से भिन्नता का निश्चय न कर सकने से दो तुल्य (पदार्थों) में उस (विवेकज ज्ञान) से (भिन्नता का) ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—गाय और बुलबुल के भेद का ज्ञान जाति से होता है। दो गायों में भेद, उनके रंग आदि रूप लक्षण से होता है। परन्तु जब रंग आदि (लक्षण) भी समान हों तब उनमें देश से अन्तर होता है कि एक गाय मथुरा की ओर की है और दूसरी रूहतक प्रान्त की। परन्तु जब देश भी दोनों का एक हो और जाति, लक्षण और देश तीनों में से किसी से भी उन में भिन्नता न की जा सके तब विवेकज ज्ञान से उनकी भिन्नता जानी जाया करती है। इसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ अणु और परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान भी विवेकज ज्ञान वाले योगी को हो जाता है।

(३१) विवेकज ज्ञान और कैवल्य

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—तारक (स्वयमेव उत्पन्न ज्ञान), सब को विषय बनाने वाले (Omni-objective), सब प्रकार से विषय बनाने वाले (Semper-objective) और क्रम की अपेक्षा रहित (Simultaneous) ज्ञान को विवेकज ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—विवेकज ज्ञान का लक्षण यह है कि उसमें चार बातें होनी चाहियें—(तारक—तारक का शब्दार्थ आंख की पुतली है; जिस प्रकार पुतली में स्वयमेव प्रकाश होता है इसी प्रकार जो ज्ञान, बिना सिखलाये और उपदेश किये, स्वयमेव उत्पन्न होता है उसे तारक कहते हैं। (२) सबको विषय बनाने

का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक बात को बिना किसी रोक टोक के जान सकना। (३) प्रत्येक बात को उसके प्रत्येक पहलू से जान सकना। (४) क्रम की अपेक्षा रहित हो कर एक ही समय में कई बातों को जान सकना। मन में युगपत ज्ञान अर्थात् एक समय में एक से अधिक विषय के ज्ञान व ग्रहण को होना संभव नहीं बतलाया जाता है परन्तु विवेकज ज्ञान उत्पन्न कर लेने के योग्य हो जाने पर, योगी, इस नियम के भी बंधन से मुक्त हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष (जीव) की शुद्धि समान होने पर कैवल्य (मोक्ष) हो जाता है।

व्याख्या—जब बुद्धि से अज्ञान और अविद्या दूर हो जाती है तो उससे राग द्वेषादि की भी निवृत्ति हो जाती है। इन (रागादि) के निवृत्त होने से वासनोत्पादक सकाम कर्म छूट जाते हैं। इन (सकाम) कर्मों के छूटने से जन्म छूट जाता और जन्म के छूट जाने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होकर मोक्ष हो जाती है। जब योगी की बुद्धि इसी क्रम से इसी अन्तिम ध्येय की ओर चलने लगती है तो जब वह सकाम कर्मों की निवृत्ति तक पहुँच जाती है तो उसकी निर्मलता ऐसी ही होने लगती है जैसे कि आत्मा की। बस इसी मार्ग पर और एक दो स्टेशन चलने से बुद्धि और आत्मा दोनों सर्वतो-भावेन शुद्ध और निर्मल हो जाते हैं और ऐसा योगी जीवन-मुक्ति और शरीर छोड़ने के बाद मुक्त हो जाता है।

इति तृतीयः विभूतिपादः।

तीसरा विभूति पाद समाप्त हुआ।

कैवल्य पाद

(३२) सिद्धि और चित्त

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

अर्थ—जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न हुई, ये (पांच) सिद्धियां हैं।

व्याख्या—पांच सिद्धियाँ संसार में पाई जाती हैं।

पहली सिद्धि

जन्म से प्राप्त होती है जैसे पशुओं का पानी में तैरना, पक्षियों का आकाश में उड़ना आदि।

दूसरी सिद्धि

औषधि के द्वारा अनेक रोगों का दूर हो जाना अथवा सोमरस पान से शरीर को पुनः युवा बना लेना आदि।

तीसरी सिद्धि

मन्त्र के जप से होती है; चित्त की एकाग्रता आदि।

चौथी सिद्धि

तपस्वी जीवन बनाने से प्राप्त होती है जिसका वर्णन द्वितीय पाद के ४३ वें सूत्र में है। अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के क्षय हो जाने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

पांचवीं सिद्धि

समाधि से होती जिसका वर्णन विभूति पाद में किया गया है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रकृति के चारों ओर से आकर (शरीर में) भर जाने से जात्यन्तर परिणाम हो जाता है।

व्याख्या—जात्यन्तर परिणाम यह है जिस प्रकार का शरीर और अन्तःकरण जन्म से किसी व्यक्ति को मिला है उनमें, औषधि सेवन, सात्विक भोजन के ग्रहण करने और समाधि के द्वारा अनेक विभूतियां के प्राप्त कर लेने से इतना अपूर्व परिवर्तन हो जाता है कि परिवर्तित शरीर, जन्म से मिले शरीर से सर्वथा भिन्न मालूम होने लगता है। जात्यन्तर परिणाम का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य से पशु या पशु से मनुष्य हो जाता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(औषध सेवन आदि) निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक (प्रेरक) नहीं (परन्तु) उस (उस औषध सेवनादि) से वरण भेद, किसान के समान अवश्य हो जाता है।

व्याख्या—वरण-भेद रुकावट दूर हो जाने को कहते हैं। ये औषध सेवनादि पांच निमित्त (देखो- इसी पाद का पहला सूत्र) प्रकृतियों की प्रेरणा नहीं करते कि वह बाहर से आकर योगी के शरीर में प्रविष्ट हो जावे, इनका काम केवल यह है कि बाहर की प्रकृतियों के शरीर में दाखिल होने में जो रुकावट होती है उसे दूर कर दें। जिस तरह किसान एक

क्यारी से दूसरी क्यारी में जब पानी पहुँचाना चाहता है तो पानी के साथ कोई यत्न नहीं करता कि वह दूसरी क्यारी में चला जावे बल्कि दूसरी क्यारी में पानी के जाने में जो मेंड़ रूपी रुकावट होती है, मेड़ को तोड़ कर उस रुकावट को दूर कर देता है। उस रुकावट के दूर हो जाने से, पानी स्वयमेव दूसरी क्यारी में पहुँच जाता है। इसी तरह शरीर से रुकावट दूर हो जाने से बाहर की प्रकृति शरीर में स्वयमेव दाखिल हो जाती है।

निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

अर्थ—केवल अस्मिता (अहङ्कार) से चित्तों की (उत्पत्ति होती है)।

व्याख्या—चित्तों का उपादान कारण अहङ्कार है। इसी (अहङ्कार) से अनेक चित्तों को योगी उत्पन्न कर लेता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

अर्थ—एक चित्त अनेक चित्तों का भिन्न भिन्न प्रवृत्ति में प्रयोजक (प्रेरक) होता है।

व्याख्या—असली चित्त जो सूक्ष्म शरीर का एक अङ्ग है प्रत्येक व्यक्ति के साथ रहा करता है। योगी शक्ति-शाली होता है इसलिये वह असली एकचित्त के सिवा और भी अनेक चित्त, चित्तों के उपादन (Material Cause) अहम् तत्व से उत्पन्न कर लिया करता है परन्तु इन चित्तों को भिन्न भिन्न कार्यों (प्रवृत्तियों) में लगाना उस असली एक चित्त ही के अधीन रहता है। योग-दर्शन में चित्त शब्द मन और चित्त दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

चित्त स्मृति, वासना और संस्कारों का भंडार है, मन का कार्य भिन्न भिन्न संकल्पों का उत्पन्न करना है। इस सूत्र में जो चित्त की उत्पत्ति लिखी है वह केवल प्रवृत्ति के लिहाज़ से लिखी गई है। अर्थात् ऐसे चित्त की उत्पत्ति का भाव केवल इतना है कि भिन्न भिन्न प्रवृत्ति वाले चित्तों का उत्पन्न कर सकना।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

अर्थ—उन (उत्पन्न चित्तों) में से ध्यान द्वारा उत्पन्न हुआ चित्त आशय (वासना) रहित होता है।

व्याख्या—जो चित्त, समाधि की सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद, उसी समाधि से उत्पन्न होता है वह वासना रहित होता है। वासना सकाम कर्म से उत्पन्न होती है। जब योगी समाधि लगा सकने के दर्जे में पहुँच जाता है तब उसके भीतर सकामता नहीं रहती। उसकी प्रवृत्ति सकामता शून्य होती है। इसलिये उनका प्रवृत्ति रूप चित्त वासना रहित होता है। सूत्र में प्रयुक्त ध्यान शब्द समाधि के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(३२) कर्म और वासना

कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

अर्थ—योगी के कर्म पाप पुण्य रहित (होते हैं) परन्तु अन्यों के तीन प्रकार के।

व्याख्या—योगी निष्काम होता है इसलिये उसके कर्मों को न पाप कह सकते हैं न पुण्य। किन्तु वे इन दोनों से ऊँचे होते हैं। पाप

पुण्य, दुःख सुखादि द्वन्द्वों का सम्बन्ध प्राकृतिक भोगों से है। योगी इन भोगों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता इसलिये उसके कर्म भी इनसे असम्बन्धित होते हैं, परन्तु जो अन्य साधारण पुरुष हैं उनके कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) शुक्ल=पुण्य, (२) कृष्ण=पाप, (३) शुक्ल कृष्ण (पाप पुण्य)=मिश्रित। उदाहरणार्थ—अहिंसा सत्यादि सात्विक कर्म=पुण्य, (२) मद्य, मांस का सेवनादि तामस कर्म=पाप (३) रजोगुणी कर्म जिनमें पाप और पुण्य दोनों मिश्रित हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—उन (तीन प्रकार के उपर्युक्त कर्मों) में उन्हीं के फलानुकूल गुणों वाली वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है।

व्याख्या—योगियों से भिन्न पुरुषों के कर्म तीन प्रकार के ऊपर कहे गये हैं। उन कर्मों के जैसे भी अच्छे, बुरे फल होते हैं उन्हीं के अनुकूल वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् यदि एक व्यक्ति ने चोरी की है तो इस दुष्ट कर्म के फलानुसार ही वासना बनेगी। इस प्रकार से बनी हुई वासना का काम यह होता है कि जिस कर्म की वह वासना होती है उसी कर्म के फिर करने की प्रेरणा करती रहती है। साधारण जन सकामता प्रिय होते हैं इसलिये उनके कर्मों से वासनाओं का बनना अनिवार्य्य है। वासना से कर्म, कर्म से फल, फलानुसार फिर वही वासना सकाम कर्म करके इस चक्र से निकलना सम्भव नहीं।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जाति, देश और काल से व्यवहित (पृथक् या दूर) होने पर भी, स्मृति और संस्कार के एक रूप होने से, (वासनाओं में) निरन्तरता रहती है।

व्याख्या—जाति से फ़ासिला होने का अभिप्राय यह है कि जब वासनायें बनी थीं उसके बाद अनेक जन्म बीत गए हों। इस प्रकार से चाहे अनेक जन्म (जाति) बीच में आ चुके हों अथवा देश से व्यवधान (फ़ासिला) हो गया हो अथवा सैकड़ों वर्ष बीत चुके हों तब भी वासनायें निरन्तर बनी रहती हैं और इस प्रकार उनके निरन्तर बने रहने का कारण यह है कि स्मृति और संस्कार दोनों एकसे बने रहते हैं। इस निरन्तरता के रखने पर भी वासनायें तिरोहित सी रहती हैं। परन्तु जब कोई अभिव्यञ्जक (प्रगट करने वाला) कारण आकर उपस्थित होता है तो वे झट प्रकट हो जाती हैं। अवश्य जब विरोधी वासनायें किसी एक वासना को दबा लेती हैं तब अभिव्यञ्जक कारण उपस्थित होनेपर भी वह प्रकट नहीं होती।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

अर्थ—उन (वासनाओं) की अनादिता है, आशिष के नित्य होने से।

व्याख्या—आशिष (कल्याण की इच्छा) के नित्य होने का

तात्पर्य यह है कि मनुष्य में अपने कल्याण की इच्छा सदैव बनी रहती है। इस इच्छा के सदैव बने रहने का कारण वासनाओं का मौजूद होना है। इसीलिए वासनाओं को, सूत्र में अनादि कहा गया है। अनादित्व का तात्पर्य प्रवाह से अनादिता का है। कहा जा चुका है कि सकाम कर्म कर्त्ता सदैव अपने लिए शुभ फलकी इच्छा किया करता है, यह फलेच्छा, फल मिलनेपर, वासना पैदा करती है, वासनासे फिर वही फलेच्छा उत्पन्न होती है। यह चक्र बराबर इसी प्रकार से जन्म जन्मान्तर से चला आता है और मुक्ति होने पर्यन्त बराबर इसी तरह चलता रहेगा। मोक्ष की अवधि कितनी ही लम्बी क्यों न हो, फिर भी वह हद वाली ही होती है और उस अवधि के बीतने पर फिर जीव को संसार में आना ही पड़ता है। संसार में आने और संसार में रहने की इच्छा होने पर फिर उसी वासना के पुराने जाल में फंसना पड़ता है, इसीलिए वासना प्रवाह से अनादि कही जाती है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

अर्थ—हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से (वासनायें) संगृहीत होती हैं। (इसलिए) इन (हेतु आदि) के अभाव से उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

व्याख्या—(१)हेतु, क्लेश और कर्म को कहते हैं, (२) फल नाम जाति, आयु और भोग का है, (३) अधिकार सहित चित्त, वासनाओं का भण्डार होने से, आश्रय कहलाता है, और (४)

इन्द्रियों के विषयों को आलम्बन कहते हैं। इन हेतु आदि ४ कारणों के उपस्थित होने से वासनायें उत्पन्न होती हैं इसलिये इन्हीं के अभाव से वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। इनके अभाव होने ही से मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये निष्कर्ष यह है कि केवल मोक्ष हो जाने ही पर वासनाओं का अभाव होता है।

अतीताऽनागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) की सत्ता धर्मों के भेद से होती है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में जो हेतु आदि के अभाव से वासना का अभाव कहा गया है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हेतु आदि अथवा वासना का अत्यन्ताभाव हो जाता है किन्तु भाव यह है कि ये हेतु आदि और वासना अतीत हो जाती हैं। जिस प्रकार वर्त्तमान की सत्ता है इसी प्रकार भूत और भविष्यत् की भी सत्ता वास्तविक रीति से है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होजावेगी। देवदत्त कथा कह रहा है यह वर्त्तमान की एक घटना है। कथा समाप्त हो जाने के बाद यह घटना वर्त्तमान काल से निकल कर भूतकाल में चली जायगी और तब कहेंगे कि देवदत्त कथा सुना रहा था। स्वरूप में अवश्य अन्तर आ गया सही परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि "देवदत्त कथा सुना रहा था।" यह घटना असत्य या निर्मूल थी। इसीलिए भूतकाल की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। भविष्यत् में इस घटना का रूप यह होगा कि "देवदत्त

कथा सुनावेगा। भविष्यत काल की यह बात वर्त्तमानकाल में परिवर्त्तित हुई और अन्त में भूतकाल में चली गई। इसीलिये भविष्यतकाल की भी सत्ता का मानना अनिवार्य है। चूंकि भूत और भविष्यतः की वास्तविक सत्ता है इसलिये वासना का वर्तमान में अभाव हो गया सही परन्तु उसके अतीत-काल में चले जाने से उसका अत्यन्ताभाव नहीं हुआ। मोक्ष प्राप्ति के लिये इतना काफ़ी है कि वर्तमानकाल में चित्त वासनारहित हो। इसलिये वासना के अत्यन्ताभाव न होने से भी, मुक्ति की प्राप्ति में बाधा का कारण, वह नहीं हो सकती।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

अर्थ—वे (धर्म) व्यक्त और सूक्ष्म गुण स्वरूप हैं।

व्याख्या—व्यक्त वर्त्तमान को कहते हैं और भूत तथा भविष्यत् का नाम सूत्र में सूक्ष्म है। इसलिये सूत्र का भाव यह है कि प्रकृति के तीन गुणों सत, रज और तम के प्रभाव से प्रकृति का जितना भी कार्य्य महत्तत्वादि के रूप में है और जिन्हें (सूत्र १२ में) धर्म कहा गया है। वे दो अवस्थाओं में रहते हैं :—(१) व्यक्त=वर्तमान (२) सूक्ष्म=भूत तथा भविष्यत्।

(३४) विज्ञानवादियों का खंडन

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—परिणाम के एक होने से वस्तु तत्व (वस्तु का एकत्व) है।

व्याख्या—सरसों, तेल निकालने की मशीन आदि के संयोग का परिणाम तेल है इसी प्रकार तेल, बत्ती, लेम्प और दियासलाई के मेल का परिणाम जलता हुआ लेम्प है। इसी प्रकार प्राकृतिक पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने पर भी उनका परिणाम वह पदार्थ जिस रूप में वह मौजूद है एक ही होता है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

अर्थ—वस्तु के एक होने पर भी चित्त के भेद से उन दोनों (चित्त और ज्ञेय वस्तु) का मार्ग है।

व्याख्या—आचार्य्य ने इस सूत्र में इस शंका का समाधान किया है कि विज्ञान (चित्त) ही एक वस्तु है और वही कारण रूप से अनेक नामों से कहा और माना जाता है। आचार्य्य का समाधान यह है कि चित्त के भेद से एक ही वस्तु अनेक रूपों में देखी और मानी जाती है। जैसे स्त्री एक वस्तु है उससे पति के चित्त को सुख, सपत्नी के चित्त को दुःख और संन्यासी के चित्त को वैराग्य होता है। यदि स्त्री रूप वस्तु, चित्त से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता वाली न होती तो उपर्युक्त अनेक चित्त वाले व्यक्ति उसे (स्त्री को) भिन्न-भिन्न रूप में न देख सकते। अतः स्पष्ट है कि चित्त और ज्ञेय पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

अर्थ—वस्तु एक चित्त-तन्त्र (अर्थात् एक ही चित्त के आधीन) नहीं है। जब उस (वस्तु) में प्रमाण (चित्त) न लगा हो तब क्या हो ?

व्याख्या—यही नहीं कि चित्त ही एक वस्तु हो बल्कि यह भी कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन भी नहीं रहती। यदि घट से हट कर चित्त पट में लग जावे तो क्या घट बिना चित्त के है? यदि हो तो अन्यों को उस घट की उपलब्धि कैसे होती है? क्योंकि माना तो यह था कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन है। इसलिये स्पष्ट हो गया कि वस्तु एक ही चित्त के आधीन भी नहीं।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥१७॥

अर्थ—चित्त के वस्तूपरागापेक्षित होने से वह (वस्तु) ज्ञात और अज्ञात होती है।

व्याख्या—किसी वस्तु के दृष्टि के सामने होने से उसका जो प्रभाव दृष्टि पर पड़ा करता है उसे उपराग कहते हैं। वस्तु के जानने के लिये चित्त को इसी उपराग की अपेक्षा होती है। यदि वस्तु का उपराग है तो वह जान ली जाया करती है। यदि नहीं तो वह फिर नहीं जानी जा सकती।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

अर्थ—चित्त की वृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं। उस (चित्त) के स्वामी पुरुष (जीवात्मा) के अपरिणामी होने से।

व्याख्या—चित्त को, परिणामी होने से, वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, उसके सामने होने की अपेक्षा होती है। परन्तु चित्त के स्वामी (जीव) को इस प्रकार की कोई आवश्यकता

नहीं। वह अपरिणामी है, और सदैव इसीलिये चित्त की वृत्तियों का ज्ञाता रहता है।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—वह (चित्त) दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं।

व्याख्या—द्रष्टा होने से जीवात्मा, ज्ञान और चेतना का प्रकाशवाला है। परन्तु दृश्य वस्तु, प्राकृतिक होने से जड़ और चेतना के प्रकाश से शून्य होती है। चित्त भी दृश्य है इसलिये वह भी जड़, ज्ञान और चेतना के प्रकाश से रहित है।

एकसमये चोभयाऽनवधारणम् ॥ २० ॥

अर्थ—एक समय में दोनों ग्रहण भी न हो सकेंगे।

व्याख्या—यदि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न की जावे और चित्त ही को सब कुछ माना जावे जैसा कि कुछ अनात्मवादी कहते हैं तो उसका फल यह होगा कि चित्त और उसके विषय घटपटादि का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। चित्त और उसके विषय घटपटादि दोनों प्राकृतिक होने से जड़ हैं और परिणामी भी। एक चित्त ने एक विषय को ग्रहण करना चाहा। जिस समय चित्त ने चाहा उस क्षण के बाद चित्त भी बदल गया और जिस वस्तु को ग्रहण करना चाहा वह भी बदल गई। इस प्रकार क्षण-क्षण में चित्त और उसके विषय घटपटादि के बदलते रहने से दोनों का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। परन्तु ग्रहण होता है। इसलिये मानना पड़ेगा कि जीवात्मा चित्त से भिन्न और अपरिणामी है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥२१॥

अर्थ—(यदि) एक चित्त को (चित्तान्तर) अन्य चित्त का दृश्य मानें तो चित्त का चित्त मानना रूप अतिप्रसङ्ग (अनवस्था-दोष) होगा और स्मृति का संकर (गड़बड़) हो जायगा।

व्याख्या—यदि अनात्मवादी यह पक्ष उपस्थित करें कि एक चित्त को दूसरे चित्त का द्रष्टा मानें तो फिर उस द्रष्टा चित्त को भी दृश्य होना पड़ेगा और उसका द्रष्टा एक तीसरे चित्त को मानना पड़ेगा। इसी प्रकार जो जो द्रष्टा होगा, उसे दृश्य और उसके लिये पृथक्-पृथक् अन्य चित्तों को द्रष्टा स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार चित्त का चित्त और फिर उसका चित्त मानना रूप अनवस्था दोष होगा। इसके सिवा दूसरा दोष यह आवेगा कि स्मृति में भी गड़बड़ हो जायगा। चित्त-स्मृति का भण्डार है। चित्त के द्रष्टा और फिर दृश्य बनने रूप चक्र में आने से स्मृति भी संकरत्व को प्राप्त होगी। इसलिये इन दोषों से बचाव का तरीका यही है कि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जावे।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

अर्थ—चेतन और अपरिणामी (जीवात्मा) के उस (चित्त) के आकार को प्राप्त होने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—चित्त के आकार वाला जीवात्मा के हो जाने का यह अभिप्राय नहीं है कि सचमुच आत्मा अपने स्वरूप को

छोड़ चित्ताकार बन जाता है। अभिप्राय केवल यह है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि शुद्ध और बिना किसी रङ्ग के केवल श्वेत होता है परन्तु जब उसके पास लाल, पीले, हरे इत्यादि किसी रंग के भी फूल रख देते हैं तो वह मणि उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जीवात्मा तो शुद्ध, रङ्ग और आकार से रहित, अप्राकृतिक है परन्तु चित्त के समीप होने से, मणि की तरह, वह चित्त में चित्ताकार वाला सा प्रतीत होने लगता है। चित्त का आत्मा में इस प्रकार आभास होने से, आत्मा को चित्त का यथार्थ ज्ञान हो जाया करता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तंचित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्यों से उपरक्त (रंगा हुआ) चित्त सर्वार्थ (प्रतीति वाला होता है)।

व्याख्या—चित्त जिस समय द्रष्टा (जीवात्मा) से उपरक्त होता है तब वह द्रष्टा प्रतीत होने लगता है और जब दृश्यों से उपरक्त होता है तब दृश्य मालूम होने लगता है। इन दोनों से एक साथ उपरक्त होने से चित्त को सर्वार्थ (समस्त दृश्य पदार्थों) का ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्त को द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त होकर दोनों के रूप में प्रतीत होने से बौद्धादि मतों के विद्वान् चित्त ही को सब कुछ समझने लगते हैं और उस (चित्त) से भिन्न द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत) का मानना अनावश्यक समझते हैं परन्तु यह उनका भ्रममात्र

है क्योंकि द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत्) से उपरक्त न होने पर चित्त का मूल्य, मिट्टी के एक तुच्छ ढेले से बढ़ कर कुछ नहीं।

तदऽसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्य-कारित्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ—वह (चित्त) असंख्य वासनाओं से चित्रित (अनेक रंगवाला) भी परार्थ है (अन्यों=द्रष्टा और दृश्य के साथ) जुड़ कर काम करने वाला होने से।

व्याख्या—कर्त्ता को, "स्वतन्त्रः कर्त्ता" के नियमानुसार, कर्म में स्वतन्त्र होना चाहिये परन्तु चित्त स्वतन्त्रता से कुछ नहीं कर सकता। उस पर यदि द्रष्टा का प्रभाव न पड़े तो वह स्वयमेव कुछ नहीं कर सकता और यदि दृश्य वस्तुओं का संनिधान न हो तो उसे जगत् की किसी वस्तु का भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये जब चित्त की यह दशा है कि द्रष्टा और दृश्य के साथ जुड़े (मेल हुये) बिना कुछ नहीं कर सकता तो मानना पड़ेगा कि वह पर (जीव) के अर्थ ही है और जो कुछ यह करता है जीव की प्रेरणा से और जीव के लिये ही करता है। इसलिये कुछ विद्वानों का यह मानना कि वही (चित्त ही) सब कुछ है ठीक नहीं।

मनुष्य जब कर्म करता है तब वह कर्म वासना के रूप में चित्त में अंकित हो जाता है। यह वासनाओं की रेखायें कर्मों की विभिन्नता के लिहाज से तरह तरह के रंग वाली होती हैं और इन्हीं को कर्म की रेखा कहते हैं। जिसके लिये लोकोक्ति

है कि "कर्म की रेखा टरे न टारे"। सूत्र में कहा गया है कि इन वासनाओं से रंग विरंगा होने पर भी, चित्त कर्तृत्व में स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता से, जीव की प्रेरणा विना, कुछ नहीं कर सकता।

(३५) आत्म साक्षात्कार

विशेषदर्शिन आत्मभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

अर्थ—विशेष दर्शिन को आत्मभाव भावना की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—योग दर्शन में, 'विशेष-दर्शिन' जीवात्मा और चित्त के निश्चयात्मक भेद-ज्ञान रखने वाले को कहते हैं। इसी विशेष-दर्शिन के दर्शन का नाम विशेष-दर्शिन है। "आत्मभाव भावना" इन विचारों को कहते हैं कि मैं कौन हूँ ? कहाँ था ? किस प्रकार यहाँ आया हूँ ? इत्यादि। जिस समय योगी, अपनी विशेष दृष्टि, से जीवात्मा और चित्त का विभेदक निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह, मैं कौन था ? कहां से आया ? इत्यादि प्रश्नों की जानकारी की इच्छा से मुक्त हो जाता है। वह समझने लगता है कि मरना जीना, आना जाना, इन सब बातों का सम्बन्ध केवल चित्त और शरीर से है और मैं (आत्मा) इनसे सर्वथा भिन्न, अजर और अमर हूँ। मरने जीने का मुझ से कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसलिये फिर मुझे इस प्रकार की चिन्ता क्यों करनी चाहिये ! इसी का नाम आत्मभाव की निवृत्ति है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

अर्थ—तब विवेक से गंभीर हुआ चित्त कैवल्य (मोक्ष) की ओर फिर जाता है।

व्याख्या—आत्मभाव भावना के निवृत्त होने पर, चित्त, विवेक अर्थात् इस ज्ञान से कि जीवात्मा और चित्त (अन्तःकरण) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, भर जाता है, और ऐसा विवेक पूर्ण चित्त का झुकाव, मोक्ष की ओर हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ विषयों से पृथक् रहने लगती हैं।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

अर्थ—उस (विवेक प्रत्यय) के छिद्रों में संस्कारों से अन्य प्रत्यय (होते हैं)।

व्याख्या—विवेक प्रत्यय ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवात्मा और अन्तःकरणका एक दूसरे से सर्वथा भिन्न समझना है। जब इस विवेक में छिद्र (विघ्न) उत्पन्न होते हैं अर्थात् विवेक ढीला ढाला सा हो जाता है तब विवेक में इस प्रकार की शिथिलता आजाने पर पुराने विषय-वासना के संस्कार जागृत हो उठते हैं और उन से भी अनेक छिद्र (विघ्न) उत्पन्न हो जाते हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

अर्थ—उनका हान (त्याग) क्लेश के समान कहा गया।

व्याख्या—क्लेशों के दूर करने की विधि द्वितीय पाद के आरंभ में (देखो सूत्र २ से १० तक) वर्णित है उन्हीं उपायों से इन उत्पन्न हुए छिद्रों (विघ्नों) को भी दूर करना चाहिए।

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

अर्थ—प्रसंख्यान में भी लालच न करने वाले (योगी) को विवेकख्याति की पूर्णता से धर्ममेघ नाम वाली समाधि (की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या—अन्तःकरण और शरीर से जीवात्मा को सर्वथा पृथक् समझने का नाम प्रसंख्यान है। जब योगी को प्रसंख्यान का भी लोभ बाक़ी नहीं रहता और वह पूर्ण त्यागी और वैरागी हो जाता है, तब उसकी विवेक ख्याति, पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, और योगी पूर्ण निष्काम हो जाता है, और उसका—विवेक एक रस बना रहता है। इस अवस्था का नाम विवेक-ख्याति की पूर्णता है। इस पूर्णता प्राप्त विवेक-ख्याति से योगी को, धर्ममेघ समाधि की सिद्धि हो जाती है, इस समाधि की प्राप्ति का फल मोक्ष है। महर्षि व्यास के लिखे क्रमानुसार योगी "सम्प्रज्ञात" योग की सिद्धि कर लेने पर, उससे आगे बढ़कर 'प्रसंख्यान' की सिद्धि करता है और प्रसंख्यान के सिद्ध हो जाने पर धर्ममेघ समाधि को प्राप्त कर लिया करता है—इस धर्ममेघ समाधि के संस्कारों से "व्युत्थान" संस्कार बिलकुल दब जाते हैं और योगी निर्बीज समाधि की ओर चलने लगता है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—तब क्लेश और कर्म निवृत्त हो जाते हैं।

व्याख्या—क्लेश का पहले वर्णन हो चुका है। कर्म का तात्पर्य पुण्यापुण्य कर्म से है जो सुख दुःख रूपी (द्वन्द्व) फल देने वाले होते हैं। आत्मा शुद्ध है, निर्मल है। परन्तु इन्हीं क्लेश और कर्मों का आवरण, उसके जगत् में कर्म के साधन-रूप अन्तःकरणों पर पड़ जाता है। तब आत्मा विवश सा हो जाता है। परन्तु जब इस धर्ममेध समाधि की सिद्धि हो जाती है तब वह आवरण उठ जाता है और चित्त भी मलिनता-रहित हो जाता है। अब शुद्ध आत्मा, रास्ते की बाधा हट जाने से, अपने अन्तिम ध्येय की ओर चल पड़ता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेय-मल्पम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—तब सब आवरण और मल से पृथक् हुये ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञेय अल्प (थोड़ा) रह जाता है।

व्याख्या—इस दर्जे पर पहुँचे हुये योगी का ज्ञान निर्मल और अनन्त (अन्य अयोगियों की अपेक्षा बहु मात्रा वाला) होता है। रजोगुण और तमोगुण का आवरण (परदा) अब उस ज्ञान से हट चुका है और क्लेश तथा वासना का मल भी दूर हो चुका है। अब योगी इस स्थिति में है कि उसके लिये जानने की बातें बहुत थोड़ी बाक़ी रह गई हैं। अधिकतर बातों को वह अपने विस्तृत ज्ञान से जान लिया करता है। जानने योग्य जो रह गया है उसका सम्बन्ध जगत् से नहीं किन्तु सर्वज्ञ और

असीम शक्तिवाले ईश्वर की ही कुछ बातें हैं जिन्हें वह नहीं जान सका है। जगत् के सम्बन्ध में ऐसी कोई मुख्य बात नहीं जिसे वह न जान सकता हो।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

अर्थ—तब कृतार्थ गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी का ज्ञान विस्तृत हो जाता और ज्ञेय अल्प रह जाता है तब उस (योगी) से सम्बन्धित प्रकृति के गुण, सत्व, रज और तम भी, कृतार्थ हो जाते हैं अर्थात् इनमें विषमता नहीं रहतीं और विषमता न होने से प्रतियोगिता भी जाती रहती है अर्थात् रज और तम में से कोई भी उस व्यक्ति पर आधिपत्य जमाने का यत्न नहीं करते। ऐसी अवस्था प्राप्त गुणों में अदल बदल भी नहीं होता अर्थात् ये गुण अब किसी प्रकार से भी योगी के काम में बाधा नहीं डाल सकते।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

अर्थ—क्षण का प्रतियोगी (विरोधी) परिणाम के अपरान्त से ग्रहण करने के योग्य ''क्रम'' (कहलाता है)।

व्याख्या—ऊपर सूत्रों में जिस 'क्रम' की बात कही गई है उस (क्रम) की परिभाषा में बतलाया गया है कि क्रम वह है जो क्षण में वस्तुओं के स्वरूप को बदलता रहता है और जो अपरान्त अर्थात् सब से अन्त में होने वाले परिणाम से

ग्रहण किया जाता है। क्रम सिलसिले को कहते हैं। किसी सिलसिले का प्रारम्भ एक विशेष क्षण से होता है और उसकी समाप्ति एक दूसरे क्षण में होती है। पहले क्षण को, जहाँ से क्रम शुरू होता है **पूर्वान्त** और अन्तिम क्षण को जहाँ वह क्रम समाप्त होता है **उत्तरान्त** या **अपरान्त** कहते हैं। क्रम की समाप्ति पर ही उस क्रम की सत्ता निर्भर समझी जाती है। इसलिये सूत्र में कहा गया है कि क्रम सबसे अन्त में होने वाले परिणाम से ग्रहण किया जाता है और क्रम का काम यह है कि वह पदार्थों के स्वरूप को क्षण-क्षण में बदलता रहता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना शक्ति का अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या—जब योगी सत, रज, और तम प्रकृति के गुणों से काम लेना छोड़ देता है तब उनके रहने का कोई प्रयोजन बाकी नहीं रहता। इसलिये वे अपने कारण (प्रकृति) में लौट जाते हैं और तब चिति शक्ति (जीवात्मा) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। अर्थात् आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति जागृत हो जाती है, इसी अवस्था का

नाम कैवल्य (मोक्ष) है। कैवल्य अवस्था को इसलिये कहते हैं कि आत्मा इसमें तनहा र: . है। प्रकृति के समस्त गुण अपने कारण में चले जाते हैं।

इति चतुर्थः कैवल्यपादः ।

चौथा कैवल्य पाद समाप्त हुआ।